मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् में वर्णित सामाजिक स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध
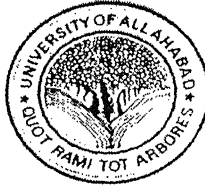
शोध-निर्देशक

प्रो. शङ्करदयाल द्विवेदी

प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्त्ता

अजय कुमार

संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

2005

आत्मनिवेदन

आत्म-निवेदन

परास्नातक परीक्षा उत्तीर्ण करने के पूर्व से ही मेरे मन में शोधकार्य करने की संकल्पना थी, जिसे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की कनिष्ठ शोध छात्रवृत्ति ने मूर्त्त रूप प्रदान किया। फलस्वरूप परास्नातक उत्तरार्द्ध सत्र पूर्ण होते ही इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में उपाचार्य पितृतुल्य पूज्य गुरु डॉ. शङ्करदयाल द्विवेदी ने मुझे अपनी स्नेहाभिषिक्त छत्रच्छाया प्रदान की। पूज्य गुरु जी की सतत् प्रेरणा, सहयोग, मार्गदर्शन और आशीर्वाद के फलस्वरूप ही मैं इस शोध-प्रबन्ध को पूर्ण करने में समर्थ हो सका। उनका हृदय से आभार व्यक्त कर पाने की सामर्थ्य मुझमें और शब्दों में नहीं है। हृदय से हृदय का सम्बन्ध होने पर ही उसे अनुभूत किया जा सकता है। उन्होंने अपने व्यस्त समय में से समय निकालकर सदा ही मार्गदर्शन एवं सामग्री का सूक्ष्म अवलोकन कर उसकी विषयवस्तु के साथ भाषा के परिष्कार एवं संशोधन तक में सहायता प्रदान किया है। उनसे यह अपेक्षा होगी कि उनकी यह अनुकम्पा इसी तरह मेरा मार्गदर्शन करती रहे।

शोधकार्य करने की जो मेरी लालसा थी, वह अकस्मात् उत्पन्न नहीं हुई, बल्कि मेरी पूजनीया मां श्रीमती शकुन्तलादेवी एवं पूज्य पिताश्री रामचन्द्र गुप्त ने जैसा वातावरण प्रदान किया, उसी का यह सुफल है। यद्यपि मेरी पारिवारिक पृष्ठभूमि में शैक्षिक सम्प्राप्ति बहुत अच्छी नहीं थी, तथापि परिवार के सभी सदस्यों ने मुझे पारिवारिक दायित्त्वों से मुक्त कर शोध जैसे गुरुतर कार्य सम्पन्न करने हेतु अनवरत प्रेरित किया। इनके प्रति कृतज्ञता तथा आभार प्रदर्शित करना इनके गौरवपूर्ण स्थान की उपेक्षा करना मात्र होगा।

आरम्भ से ही साहित्य का विद्यार्थी होने के कारण मेरी यह स्वाभाविक इच्छा थी कि समाज के मध्यम एवं सामान्य वर्ग पर केन्द्रित साहित्यिक ग्रन्थों

पर शोधकार्य कर सकूँ। मेरी इस जिज्ञासा को समझकर पूज्य गुरु जी ने शूद्रककृत मृच्छकटिकम् एवं दण्डीकृत दशकुमारचरितम् विषय पर कार्य करने की सलाह दी। इन दोनों ग्रन्थों में तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्रण हुआ है, जो अर्वाचीन सामाजिक परिस्थितियों से बहुत भिन्न नहीं है। फलतः मैंने मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् जो शिल्प एवं समय की दृष्टि से पृथक् हैं, फिर भी दोनों में एक प्रकार का सामाजिक खुलापन एवं कवि स्वातन्त्र्य प्राप्त होता है, में वर्णित सामाजिक स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन विषय पर शोधकार्य प्रारम्भ किया।

इस कार्य में मुझे समय-समय पर विद्वज्जनों, मित्रों तथा विभिन्न पुस्तकालयों से सहायता मिलती रही है। गुरुवर्या प्रो. ज्ञानदेवी श्रीवास्तव, पूर्व विभागाध्यक्ष संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, एवं प्रो. मृदुला त्रिपाठी, वर्तमान विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने समय-समय पर अपने बहुमूल्य मार्गदर्शन एवं सुझावों से मेरे शोधकार्य को द्विगुणित किया। विभाग के अन्य वन्दनीय गुरुजनों ने भी समय-समय पर मेरी शोधकार्य विषयक जिज्ञासाओं पर अपने बहुमूल्य सुझाव देकर मेरे कार्य को अधिक वैशिष्ट्य प्रदान किया। इन सभी के प्रति मैं हृदय से विनत हूँ।

मेरे इस शोधकार्य में मेरे मित्रों श्री ज्योतिस्वरूप शुक्ल, श्री शिवदान सिंह भदौरिया, श्री राकेश कुमार कौशल, श्री अरविंद सिंह, श्री अनीह कुमार द्विवेदी, श्री देवेश शुक्ल एवं श्री ब्रह्मदेव तिवारी एवं अन्य अनेक मित्रों, जिनका नाम मैं नहीं दे पा रहा हूँ ने अपना अमूल्य सहयोग दिया, इन सभी का मैं धन्यवाद किन शब्दों में करूँ?

शोधपरक अध्ययन के प्रसंग में केन्द्रीय पुस्तकालय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मानित विश्वविद्यालय) गङ्गानाथ झा परिसर पुस्तकालय, इलाहाबाद, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय पुस्तकालय,

वाराणसी से शोध सामग्री एकत्रित करने में सहायता प्राप्त हुई। इन संस्थानों के निरन्तर विकास एवं उदय की कामना करता हूँ।

टंकण कार्य की स्पष्टता एवं शुद्धता तथा शीघ्रता के लिए श्री विपिन विमर्श द्विवेदी, अलका कम्प्यूटर्स एवं प्रिन्टर्स, 108/5 छोटा बघाडा, इलाहाबाद का आभार प्रकट करता हूँ।

मैंने शोध-प्रबन्ध लेखन में विशेषतः पादटिप्पणियाँ देते समय 'मृच्छकटिकम्' लेखक डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी, संपादन मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, 1993 तथा 'दशकुमारचरितम्' लेखक विश्वनाथ झा, संपादन- मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1971 को आधार बनाया है।

शोध जैसे दुरूह कार्य करने में यह स्वाभाविक ही है कि शोधार्थी द्वारा ज्ञात-अज्ञात अनेक त्रुटियाँ हुई होंगी, जिसके लिए शोधार्थी हृदय से क्षमा प्रार्थी है।

दिनाङ्क - 21-7-65

विनयावनत

Ajay Kumar

(अजय कुमार)

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

अध्याय - 1

(क) 1. मृच्छकटिकम् का सामान्य परिचय

संस्कृत नाटकों में 'मृच्छकटिकम्' अपने ढंग का अद्वितीय नाटक है। इसमें एक साथ प्रणयकथात्मक प्रकरण, धूर्तसंकुल भाण, तथा राजनीतिक नाटक का वातावरण दिखाई देता है। संस्कृत में यही एकमात्र चरित्र प्रधान नाटक कहा जा सकता है। यही अकेला ऐसा नाटक है, जो उस काल के मध्यवर्ग की सामाजिक स्थिति को पूर्णतः प्रतिबिंबित करता है। शूद्रक ने अपनी कृति में सभी प्रकार के पात्रों की सृष्टि कर तत्कालीन समाज का बड़ा ही सजीव एवं यथार्थ चित्र उपस्थित किया है। संस्कृत के अन्य नाटकों के समान इसमें हमारे समाज के केवल उच्च या सम्भ्रान्त वर्ग का ही चित्रण नहीं हुआ, अपितु समाज की सभी श्रेणियों का यथार्थ निरूपण हुआ है। ब्राह्मण, दरिद्र ब्राह्मण, चोर, धूर्त, जुआरी, वेश्या, गणिका, राजा, राजा के सम्बन्धी साला, पुलिस के अधिकारी आदि सभी पात्र नाटक में यथोचित स्थान पर चित्रित होकर नाटक की रमणीयता को बढ़ाते ही है।

इस प्रकरण के प्रथम चार अङ्क कुछ परिवर्तन के साथ भास-कृत 'चारुदत्त' की प्रतिकृति है।[1] प्रत्येक पात्र पात्रानुसार विभिन्न भाषाएं जैसे संस्कृत, प्राकृत आदि बोलते हैं। इस प्रकरण के पात्रों के नाम कुछ बदल दिये गये हैं।

---

1 डॉ. कीथ, ए.वी., द संस्कृत ड्रामा, (अनु.) उदयभानु सिंह

2. मृच्छकटिकम् की संक्षिप्त कथा

महाकवि शूद्रक कृत 'मृच्छकटिकम्' 10 अंकों का एक प्रकरण ग्रन्थ है। यह समस्त नाटक व्यापार उज्जयिनी नगरी में सम्पादित किया गया है। कथानक का संक्षिप्त सार इस प्रकार है। प्रथम अंक का नाम 'अलङ्कार-न्यास' है। इसमें उज्जयिनी नगरी की प्रसिद्ध गणिका वसंतसेना का शकार पीछा करता है और उस पर अनुरक्त है। किन्तु बसंतसेना कामदेवायतनोद्यान में पहले से ही चारुदत्त पर अनुरक्त है। उसका अनुगमन करते हुए राजश्यालक शकार से वसंतसेना को ज्ञात हो जाता है कि वह चारुदत्त के मकान के पास में ही है। वह शकार को चकमा देकर चारुदत्त के घर में प्रविष्ट हो जाती है। शकार से बचने के लिए वसंतसेना अपने आभूषण चारुदत्त के घर रख देती है और चारुदत्त उसे उसके घर पहुँचा आता है।

द्वितीय अंक का नाम 'द्यूतकार संवाहक' है। संवाहक पाटलिपुत्र का सभ्य नागरिक था। भाग्य-विपरीत होने के कारण वह उज्जयिनी में चारुदत्त का नौकर बन जाता है। चारुदत्त के दरिद्र होने पर वह जुआरी बन जाता है। जुए में हार जाने पर वह माथुर को दस मोहर नहीं चुका पाता और द्युतकार एवं माथुर के द्वारा पीछा किए जाने पर वसंतसेना के घर में घुस जाता है। वसंतसेना उसे चारुदत्त का पुराना नौकर समझकर अपने हस्ताभरण द्वारा जुए के ऋण से मुक्त कर देती है। ग्लानि के कारण संवाहक बौद्ध भिक्षु बन जाता है। थोड़ी देर बाद वसंतसेना का हाथी खुण्टमोडक उस पर आक्रमण करता है, किन्तु वंसतसेना के नौकर कर्णपूरक उसे बचाता है। निकट ही खड़े चारुदत्त प्रसन्न होकर कर्णपूरक को दुशाला पुरस्कार में देते हैं। कर्णपूरक उस दुशाले को वसंतसेना को दे देता है और बसंतसेना खुश होकर उसे ओढ़ कर अपने महल की सबसे ऊँची छत पर पहुँच जाती है।

तृतीय अंक का नाम 'सन्धिच्छेद' है। मदनिका वसंतसेना की दासी है। शर्विलक नामक ब्राह्मण मदनिका पर अनुरक्त है और उससे विवाह करना चाहता है। किन्तु उसकी मुक्ति के लिए उसे धन की आवश्यकता है, अतः वह चारुदत्त के घर में सेंध करके वसंतसेना द्वारा दी गई सुवर्ण से भरी भाण्ड चुरा लेता है। चारुदत्त की धर्मपत्नी धूता चारुदत्त को अपयश से बचाने के लिए अपनी रत्नावली विदूषक को सौंपकर वंसतसेना को देने के लिए विदा करती है। चारुदत्त सेंध बन्द करने का आदेश वर्धमानक को देता है।

चतुर्थ अंक का नाम 'मदनिका-शर्विलक' है। शर्विलक आभूषण चुराकर वसंतसेना के घर पहुँचता है। मदनिका को आभूषण चोरी का सारा वृत्तान्त सुनाकर उसे आभूषण सौंपना चाहता है। वसंतसेना उन दोनों के वार्तालाप को चुपके से सुनकर भी शर्विलक के द्वारा आभूषण दिए जाने पर ले लेती है और मदनिका को शर्विलक की वधू के रूप में जाने की आज्ञा दे देती है। अपनी वधू के साथ प्रस्थान करने पर शर्विलक राजा की आज्ञा से अपने मित्र आर्यक के बंदी होने का समाचार सुनता है। राजा को इस भविष्यवाणी की जानकारी है कि आर्यक राजपद प्राप्त करेगा। शर्विलक अपनी वधू को छोड़कर अपने मित्र की सहायता के लिए दौड़ता है जिसके विषय में यह सूचना मिली है कि वह बंधन से भाग निकला है। तत्पश्चात् विदूषक रत्नावली को लेकर आता है। वसंतसेना उसे स्वीकार कर लेती है थकि उसके बहाने वह चारुदत्त से एक बार फिर मिल सके।

पंचम अंक का नाम 'दुर्दिन' है। वसन्तसेना विट को साथ लेकर चारुदत्त के प्रति अभिसरण करती है। चारुदत्त उसकी प्रतीक्षा करता है। पानी से भीगी हुई वसन्तसेना चारुदत्त के यहाँ पहुँचती है। चारुदत्त वसन्तसेना का स्वागत करता है। विदूषक से वसन्तसेना के आगमन का कारण पूछे जाने पर

चेटी कहती है कि हमारी मालकिन यह पूछती है कि रत्नावली का मूल्य क्या है? वह उसे अपना समझकर जुए में हार गई हैं, उसके बदले यह सुवर्णभाण्ड देने को उद्यत हैं। चारुदत्त और विदूषक दोनों देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं। चेटी सुवर्णभाण्ड की प्राप्ति का सारा वृत्तान्त विदूषक के कान में कह देती है। विदूषक चारुदत्त से सब कुछ कहकर लौटना चाहता है। चारुदत्त और वसन्तसेना साथ-साथ घर चले जाते हैं तथा वसंतसेना रात वहीं बिताती है।

षष्ठ अंक का नाम 'प्रवहण विपर्यय' है। अगले दिन सवेरे वसंतसेना चारुदत्त की स्त्री को रत्नावली वापस करना चाहती है परन्तु उसका परिदान अस्वीकृत कर दिया जाता है। चारुदत्त का बालक यह शिकायत करता हुआ आता है कि उसके पास केवल एक छोटी-सी मिट्टी की गाड़ी (मृच्छकटिका) है। इसी आधार पर रूपक का नामकरण हुआ है। वसंतसेना उसे अपना आभूषण देती है, जिससे वह सोने की गाड़ी खरीद ले। चेटी वसंतसेना से कहती है कि चारुदत्त पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान गये हैं और कह गये हैं कि गाड़ी तैयार करके वसंतसेना को भी उद्यान की ओर ले आना। चारुदत्त का चेट वर्धमानक वसंतसेना को ले जाने के लिए गाड़ी लाता है और उसका बिछावन लाने के लिए घर को वापिस लौट पड़ता है। वसंतसेना द्वार पर अचानक आती है और वहाँ खड़ी शकार की गाड़ी को चारुदत्त की गाड़ी समझकर उसमें बैठ जाती है। स्थावरक गाड़ी लेकर आगे बढ़ जाता है। आर्यक जेल से भागा हुआ है और शरण चाहता है। वह वसंतसेना के लिए खड़ी गाड़ी में बैठ जाता है। उसके हाथ की बेड़ी की झनझनाहट को वसंतसेना के आभूषण की ध्वनि समझकर वर्धमानक गाड़ी हाँक देता है। दो आरक्षक उस गाड़ी को रोकते हैं। एक आरक्षक गाड़ी को पहचानता है, किन्तु दूसरे से झगड़ा करके उसकी रक्षा करता है।

सातवें अंक का नाम 'आर्यकापहरण' है। चारुदत्त और विदूषक दोनों वसंतसेना को लेकर आने वाली गाड़ी की प्रतीक्षा कर रहे है। इतने में गाड़ी आती है किन्तु आर्यक को देखकर चिन्तित होते हैं। चारुदत्त आर्यक को अभयदान देकर उसके बन्धन कटवाकर अपनी ही गाड़ी में विदा कर देते हैं। तत्पश्चात् चारुदत्त वसंतसेना की खोज में चला जाता है।

आठवें अंक का नाम 'वसन्तसेना-मोटन' है। विट और चेट के साथ शकार पुष्पकरण्डक उद्यान पहुँचकर संवाहक को जो अब बौद्ध भिक्षु बन गया था, अपराधी समझकर उसको पीटता है, किन्तु विट उसे बचा लेता है। भिक्षु अपने प्राण बचाकर भाग आता है। फिर वसंतसेना उद्यान में पहुँचती है तो संस्थानक उससे प्रणय-निवेदन करता है। वसन्तसेना उसके प्रणय-निवेदन को ठुकरा देती है तो वह विट और चेट को वसंतसेना को मार डालने की आज्ञा देता है, किन्तु वे दोनों संस्थानक का साथ छोड़कर चले जाते हैं। एकान्त पाकर संस्थानक वसन्तसेना का गला घोंटकर और उसे मरा हुआ समझकर सूखी पत्तियों से ढंककर चारुदत्त के विरुद्ध हत्या का मुकदमा चलाने के लिए चल देता है। वह बौद्ध भिक्षु उद्यान में पुनः आता है और वसंतसेना को विहार ले जाकर उसकी सेवा करके स्वस्थ कर देता है।

नवें अंक का नाम 'व्यवहार' है। संस्थानक अधिकरण में आकर चारुदत्त पर वसंतसेना की हत्या का अभियोग लगाता है। आरक्षक वीरक आर्यक का पलायन प्रमाणित करता है जो चारुदत्त को फंसा देता है। विदूषक वसंतसेना के आभूषणों को जो वसंतसेना ने चारुदत्त के पुत्र रोहसेन के खिलौने बनाने के लिए दिया था, वसंतसेना को लौटाने के लिए जाता है किन्तु अधिकरण में प्रवेश करता है। वह शकार पर क्रोधाभिभूत होता है। जिससे विदूषक के बगल से वसंतसेना के आभूषण गिर पड़ते हैं। शकार उन आभूषणों को दिखाते हुए कहता है कि इन आभूषणों के लिए ही चारुदत्त ने

वसंतसेना की हत्या की है। चारुदत्त पर अभियोग प्रमाणित हो जाता है और उसे निर्वासन की सजा सुनाई जाती है। राजा पालक उसके निर्वासन की सजा को प्राणदण्ड में बदल देता है।

दसवें अंक का नाम 'संहार' है। दो चाण्डाल चारुदत्त को मारने के लिए श्मसान की ओर ले जाते हैं। वे जैसे ही उसे शूली पर चढ़ाने वाले होते है वैसे ही भिक्षु और वसंतसेना वहाँ पहुँच जाते हैं। यह देखकर सभी आश्चर्यचकित हो जाते हैं। इसी समय यह समाचार मिलता है कि शर्विलक राजा पालक को मारकर आर्यक को राजा बना देता है। चारुदत्त को मुक्ति और शकार को मिथ्या-अभियोग लगाने के कारण प्राणदण्ड दिया जाता है, किन्तु चारुदत्त उसे क्षमा कर देता है।

इधर चन्दनक यह समाचार देता है कि धूता सती होने वाली है। चारुदत्त उसे बचाता है। बौद्ध भिक्षु समस्त विहारों का कुलपति बना दिया जाता है। राजा आर्यक चारुदत्त को एक राज्य का अनुदान देता है। वसंतसेना गणिका-वृत्ति से मुक्त कर दी जाती है और उसे धर्मपत्नी होने का अधिकार मिल जाता है। चारुदत्त का वसंतसेना के साथ विवाह हो जाता है। इस प्रकार यह प्रकरण समाप्त हो जाता है।

3. मृच्छकटिकम् का रचना-काल

किसी भी साहित्य से तत्कालीन समाज की झलक मिलती है। मृच्छकटिकम् में भी उस समय के समाज की स्थिति की झलक मिलती है। अतः यह जानना आवश्यक हो जाता है कि मृच्छकटिकम् किस काल की रचना है। इसके रचना-काल के सम्बन्ध में विद्वानों के मध्य मतैक्य नहीं है। इसलिए अभी तक यह पूर्णतः निश्चित नहीं हो सका है कि यह प्रकरण किस समय रचा गया। इसके रचनाकाल से सम्बन्धित किसी भी जानकारी का उल्लेख न तो इस ग्रन्थ में है और न ही किसी अन्य स्रोत में। इसके

रचनाकार शूद्रक का समय स्पष्ट रूप से ज्ञात न होने के कारण यह विषय और भी विवादास्पद हो जाता है। अतः इसके लिए इसे केवल आभ्यन्तर एवं बाह्य प्रमाणों की कसौटी पर परखा जा रहा है-

1. दरिद्र चारुदत्त के आधार पर - मृच्छकटिकम् की रचना का आधार भासकृत 'दरिद्र चारुदत्त' है। किञ्चित् परिवर्तनों के साथ इसके प्रारम्भिक चार अंक भी इसी कृति के आधार पर रचे गये हैं। इसके आधार पर विद्वानों का मानना है कि भास का 'दरिद्रचारुदत्त' मृच्छकटिकम् की अपेक्षा प्राचीन है। अतः भास का काल मृच्छकटिकम् की ऊपरी सीमा सिद्ध होता है। भास का काल कालिदास के समय पर आश्रित है। कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' की भूमिका में भास का उल्लेख किया है। किन्तु कालिदास का ही काल अभी तक निश्चित नहीं हो सका है। इनके विषय में निश्चित रूप से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि ये ई.पू. प्रथम शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी ई. के बीच किसी समय हुए थे। अधिकांश भारतीय विद्वान् इन्हें प्रथम शताब्दी ई.पू. तथा अधिकांश विदेशी विद्वान् चतुर्थ शताब्दी ई. या गुप्तकाल का मानते हैं। जो विद्वान् इन्हें ई.पू. प्रथम शताब्दी मानते हैं उनके अनुसार भास का काल ई.पू. द्वितीय शताब्दी के आस-पास होना चाहिए। जो विद्वान् कालिदास को चौथी शताब्दी ई. के मानते हैं उनके अनुसार भास का काल तीसरी शताब्दी ई. के लगभग होना चाहिए। अतः मृच्छकटिकम् का रचना-काल भास के बाद ई.पू. दूसरी शताब्दी या तीसरी शताब्दी ई. के आस-पास होना चाहिए।

2. मनुस्मृति के आधार पर - मृच्छकटिकम् के नवें अंक के उनतालीसवें श्लोक में अधिकरणिक ने अपने निर्णय में मनु को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है।

अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत् ।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह।।[1]

यह भाव मनुस्मृति में प्राप्त होता है कि ब्राह्मण का वध न किया जाय।[2] इससे यह तथ्य ज्ञात होता है कि मृच्छकटिकम् मनुस्मृति के बाद की रचना होगी। मनुस्मृति का समय ई. पू. दूसरी शताब्दी से दूसरी शताब्दी ई. माना जाता है। अतः यह प्रकरण इसके बाद ही रचा गया होगा।

भास एवं मनुस्मृति का काल लगभग एक ही माना गया है, अतः ई.पू. दूसरी शताब्दी मृच्छकटिकम् के रचना-काल की उच्चतम सीमा माना गया है।

3. वैशिकी कला के उल्लेख के आधार पर - मृच्छकटिकम् के प्रथम अंक के चौथे श्लोक में 'वैशिकी कलां'' का उल्लेख किया गया है-

ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलांवैशिकीं हस्तिशिक्षां
ज्ञात्वा शर्वप्रसादाद् व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य।

वैशिकी कला का अर्थ है वेश्या-सम्बन्धी कलाओं अर्थात् संगीत, नृत्य आदि। वात्स्यायन के कामसूत्र में 'वैशिकी' अध्याय है। वात्स्यायन का समय प्रथम शताब्दी ई.पू. के लगभग है। मृच्छकटिकम् की नायिका वेश्या ही है और यह स्थिति कामसूत्र के रचना-काल के आस-पास की है। अतः यह माना जाता है कि मृच्छकटिकम् भी ई. संवत् के आस-पास की रचना रही

---

1 मृच्छकटिकम् अङ्क 9.39

2 न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेस्वपि स्थितम्।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात् समग्रधनमक्षयम्।। मनु. (8-380)

होगी। वात्स्यायन ने कामसूत्र में सातवाहन का आन्ध्र-भृत्य वंश के एक राजा का उल्लेख भी किया है।[1]

4. प्राकृत भाषाओं के आधार पर - मृच्छकटिकम् में आठ प्रकार की प्राकृत भाषाओं का प्रयोग हुआ है। किन्तु वे प्राकृत भाषाएं व्याकरण के नियमों से पूर्णतया मेल नहीं रखती। वे प्राकृत भाषा के विकास की प्रारम्भिक अवस्था को सूचित करती है।

5. नाट्य-कला के आधार पर - नाट्य-कला के अनेक नियमों का पालन मृच्छकटिकम् में नहीं किया गया है। इसका लेखक पात्रों द्वारा भाषा-प्रयोग के नियमों और नाटक में रसों की प्रधानता या अप्रधानता सम्बन्धी नियमों से परिचित नहीं है। मृच्छकटिकम् की भाषा भास की भाषा से मिलती जुलती है जो सरलता एवं सादगी से युक्त है। उसमें कालिदास जैसी आलङ्कारिता एवं परिमार्जन नहीं है। इससे इसका रचना-काल भास और कालिदास के बीच का प्रतीत होता है।

6. जैकोबी के मत के आधार पर - कुछ लोगों के मत से मृच्छकटिकम् कालिदास की अपेक्षा अर्वाचीन है, क्योंकि कालिदास पर मृच्छकटिकम् का बिल्कुल प्रभाव नहीं है। मृच्छकटिकम् की प्राकृत भाषाएं अर्वाचीन हैं, जिनमें ढक्की प्राकृत तो अपभ्रंश का ही एक रूप है। इन कारणों से जैकोबी भी मृच्छकटिकम् को कालिदास के बाद का ही मानते हैं।

7. डॉ. देवस्थली के मत के आधार पर - डॉ. देवस्थली का मानना है कि पंचतंत्र एवं मृच्छकटिकम् के दो श्लोक तथा एक पंक्ति मिलती है। उन्होंने पंचतंत्र का काल 500 ई. माना है। किन्तु कुछ विद्वान् पंचतंत्र का काल निश्चित नहीं मानते हैं।

---

1 वी. वरदाचार्य, संस्कृत साहित्य का इतिहास, (हिन्दी) पृ. 103

8. वराहमिहिर के आधार पर - मृच्छकटिकम् के नवें अंक के तैंतीसवें श्लोक में अधिकरणिक के द्वारा कहे गये "अंगारविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य बृहस्पतेः।" में मंगल ग्रह को बृहस्पति ग्रह का शत्रु माना गया है। किन्तु यह सिद्धान्त ज्योतिषशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् वराहमिहिर के पहले प्रचलित था। वराहमिहिर ने मंगल को बृहस्पति का मित्र ग्रह माना है।[1] वराहमिहिर का समय छठी शताब्दी ई. है, अतः मृच्छकटिकम् इसके पहले की रचना है।

9. दण्डी के काव्यादर्श के आधार पर - आचार्य बलदेव उपाध्याय का मत है कि आचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श में उत्प्रेक्षा के उदाहरण के रूप में 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि[2] .....' यह पद्य दिया है जो मृच्छकटिकम् के पहले अंक का चौंतीसवाँ श्लोक है। दण्डी का समय 700 ई. के लगभग है, अतः मृच्छकटिकम् का समय इसके आस-पास ही होना चाहिए।

किन्तु यह पद्य मूलतः भास (बालचरित 1.15; चारुदत्त 1.19) का है, भास से इसे शूद्रक (मृच्छकटिकम् 1.34) ने ग्रहण किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में यह पद्य दण्डी के पहले से ही चर्चा का विषय बन चुका था।

10. वामन के आधार पर - वामन ने अपनी रचना 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में 'घूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम् ......'[3] यह मृच्छकटिकम् का वाक्य उद्धृत किया है तथा 'शूद्रकादिरचितेषुप्रबन्धेषु'[4] कहकर शूद्रक का स्पष्ट रूप से उल्लेख भी किया है। अतः मृच्छकटिकम् की

---

[1] जीवेन्दूष्णकराः कुजस्य सुहृदः। वृहज्जातक 2-16

[2] दण्डी, काव्यादर्श, 2-226

[3] वामन, काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 4-3-23

[4] वही, 3-2-24

रचना वामन से निश्चित रूप से पहले हुई है। वामन का काल 800 ई. के लगभग माना जाता है। इसप्रकार मृच्छकटिकम् के रचना-काल की यह निम्नतम सीमा है।

11. डॉ. कीथ के मत के आधार पर - डॉ. कीथ का कहना है कि मृच्छकटिककार ने भास की पद्धति का पूर्णतः अनुसरण किया है। अतः इसके आधार पर मृच्छकटिकम् की प्राचीनता सिद्ध नहीं की जा सकती। अधिकरणिक के आदेश का पालन करता हुआ सिपाही जिस हास्यास्पद शीघ्रता के साथ वसंतसेना की माँ और चारुदत्त को अधिकरण में उपस्थित करता है, वह भास के नाटकों के वस्तु-विधान के ठीक समान है। शकार और विट अवश्य प्रारम्भिक अवस्थान के पात्र हैं परन्तु उनका ग्रहण सीधे भास से किया गया है और उनसे कोई बात सिद्ध नहीं होती। बौद्धभिक्षु की अवस्थिति अधिक महत्त्वपूर्ण है, परन्तु वह भी उधार लिया हुआ पात्र है। हाँ, उसका रूप विकसित है। कालिदास और हर्ष की रचनाओं में भी बौद्धधर्म के प्रति आदर व्यक्त किया गया है। नाटक के आरंभिक रचना-काल के विषय में, यूनानी (न्यू कामेडी) New comidy के साथ आभासित सादृश्य पर आधारित तर्क महत्त्वहीन हैं। क्योंकि यदि उनका कुछ भी महत्त्व माना जाय, तो वे भास के चारुदत्त पर लागू होते हैं। अतएव हम केवल कुछ धारणाएं बना पाते हैं, जो मृच्छकटिकम् के काल-निर्धारण के लिए बिल्कुल अपर्याप्त हैं।

इस प्रकार मृच्छकटिकम् के रचना-काल के सम्बन्ध में विभिन्न मत दिए गये हैं। इन मतों के आधार पर मृच्छकटिकम् के रचना-काल का निश्चय नहीं हो पाता। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यह प्रथम शताब्दी ई.पू. से आठवीं शताब्दी ई. के बीच किसी समय रचा गया होगा।

मृच्छकटिकम् में जिस प्रकार की सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति दिखाई देती है, वैसी स्थिति भारतीय इतिहास में गुप्तकाल के बाद और हर्षवर्धन के पूर्व दिखाई देती है। इस समय भारत में कोई सार्वभौम राजा नहीं था। राजा विलासी एवं अन्यायी होता था और प्रजा-हित की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देता था। राज्य में षडयन्त्रों का बोलबाला था और षडयन्त्र करके राजसत्ता का भी परिवर्तन किया जा सकता था। तत्कालीन भारत ही आर्थिक, धार्मिक स्थिति भी मृच्छकटिकम् से मिलती-जुलती है। अतः यह कहना सर्वाधिक युक्तिसङ्गत है कि मृच्छकटिकम् की रचना पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम एवं छठी शताब्दी के प्रथम भाग में हुई थी।

4. मृच्छकटिककार शूद्रक का परिचय

संस्कृत-साहित्य की परम्परा में एक-दो ग्रन्थकारों को छोड़कर अन्य ग्रन्थकारों के द्वारा स्वयं अपना परिचय जन्म-स्थान, काल आदि का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है। इसी परम्परा का पालन करते हुए मृच्छकटिकार शूद्रक ने भी अपने विषय में कुछ उल्लेख नहीं किया है। किन्तु मृच्छकटिकम् की प्रस्तावना के प्रारम्भिक तीन श्लोकों में उनके सम्बन्ध में थोड़ी सी जानकारी मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये श्लोक प्रक्षिप्त अंश हैं और बाद के किसी कवि ने शूद्रक को प्रसिद्ध करने के लिए इन्हें प्रस्तावना में रखा दिया। ये तीन श्लोक हैं-

"द्विरदेन्द्रगतिश्चकोरनेत्रः परिपूर्णेन्दुमुखः सुविग्रहश्च।
द्विजमुख्यतमः कविर्बभूव प्रथितः शूद्रक इत्यगाधसत्वः॥"[1]

"ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षां
ज्ञात्वा शर्वप्रसादाद् व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य।

[1] मृच्छकटिकम् , 1-3

राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा
लब्ध्वा चायु शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः।।[1]
''समव्यसनी प्रमादशून्यः ककुदो वेदविदां तपोधनश्च।
परवारणबाहुयुद्धलुब्धः क्षितिपालः किल शूद्रको बभूव।।''[2]

अर्थात् राजा शूद्रक गजराज के समान मतवाली चाल वाले, चकोर नामक पक्षी के समान आँखों वाले, पूर्णिमा तिथि के चन्द्रमा के समान मुखवाले, सुन्दर सुगठित शरीर वाले, एवं द्विजों में सर्वश्रेष्ठ अर्थात् ब्राह्मण थे। वे अत्यन्त शक्तिशाली थे एवं शत्रुओं के हाथियों से बाहुयुद्ध करने के इच्छुक रहते थे। उन्होंने ऋग्वेद, सामवेद, गणित एवं नृत्य आदि चौंसठ कलाओं, नाट्यशास्त्र एवं हस्तिचालन की शिक्षा को प्राप्त करके एवं भगवान् शंकर से ज्ञानरूपी नेत्रों को प्राप्त किया था। उन्होंने अत्यन्त उन्नति प्रदान करने वाला अश्वमेघ यज्ञ किया था। वे युद्धप्रेमी एवं सर्वदा सतर्क रहने वाले राजा थे।

शूद्रक का नाम अनेक ग्रंथों में मिलता है, किन्तु यह निश्चय कर पाना अत्यन्त कठिन है कि ये मृच्छकटिककार शूद्रक ही हैं या कोई अन्य।

शूद्रक के निवास-स्थान से सम्बन्धित स्पष्ट जानकारी किसी अन्य स्रोत में प्राप्त नहीं होती। अतः मृच्छकटिकम् में वर्णित कुछ उद्धरणों के आधार पर केवल अनुमान किया जा सकता है।

मृच्छकटिकम् के प्रथम अंक के तेईसवें श्लोक में ''नाणक''[3] शब्द आया है। दक्षिण में नाणक का अर्थ पैसा होता है। दूसरे अंक में वसंतसेना

---

1 मृच्छकटिकम्, 1-4

2 वही, 1-5

3 ''एषा नाणकमोषिकामकशिका मत्स्याशिका लासिका..।'' मृच्छ.,अङ्क- 1-23

के हाथी का नाम खुण्टमोडक है। खुण्टमोडक शब्द दक्षिण में प्रचलित है। इनके आधार पर शूद्रक का दाक्षिणात्य होना सूचित होता है। छठें अंक में वीरक एवं चन्दनक के संवाद में चन्दनक अपने को दक्षिण का निवासी बतलाता है-

अरे! तुम्हें अविश्वास क्यों है? हम दक्षिण के निवासी अस्पष्ट बोलने वाले होते हैं।[1] वीरक चन्दनक पर अविश्वास करके गाड़ी देखना चाहता है, किन्तु चन्दनक रोकने का उपाय सोचता है- "तत्कोऽत्रोपायः? कर्णाटकलहप्रयोगं करोमि।"[2] कर्णाटकलहप्रयोगं से भी यह सूचित होता है कि शूद्रक दाक्षिणात्य है। दसवें अंक में 'सह्यवासिनी" देवी का स्मरण किया गया है। चाण्डाल चारुदत्त को मारने के लिए खड्ग चलाता है किन्तु खड्ग चाण्डाल के हाथ से गिर जाता है तो चाण्डाल कहता है-

"हे सह्य (नामक पर्वत) पर वास करने वाली देवी दुर्गा? प्रसन्न हो जाओ।"[3] अनेक दाक्षिणात्य कवियों ने दुर्गादेवी का 'सह्यवासिनी' नाम से वर्णन किया गया है। उत्तरभारत के कवियों ने उनका 'विन्ध्यवासिनी' नाम से उल्लेख किया है। इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि शूद्रक दाक्षिणात्य थे, किन्तु निश्चित स्थान का पता नहीं चल पाता।

शूद्रक ने अपनी कथा-भूमि के रूप में उज्जैन नगरी का चुनाव किया है अतः यह कहा जा सकता है कि उज्जैन ही उनका निवास स्थान था। उज्जैन उनकी राजधानी थी, ऐसा वर्णन भी मिलता है।

---

1 "अरे, कोऽप्रत्ययस्तव? वयं दाक्षिणात्या अव्यक्तभाषिणः।" डॉ. त्रिपाठी, रमाशंकर, मृच्छ., अङ्क-7, पृ. 428

2 वही

3 "भगवति सह्यवासिनी। प्रसीद प्रसीद....।" मृच्छ., अङ्क-10, पृ. 102

मृच्छकटिकम् के अध्ययन से ज्ञात होता है कि शूद्रक वैदिक धर्मानुयायी था। प्रथम अंक के चतुर्थ श्लोक से ज्ञात होता है कि वह ऋग्वेद एवं सामवेद का ज्ञाता था- "ऋग्वेदं सामवेदं ज्ञात्वा शर्वप्रसादाद् व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य।"[1] उसने अश्वमेघ यज्ञ भी किया था- "परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा....।" वह भगवान् शंकर का अनन्य उपासक था, ऐसा प्रथम अंक के अध्ययन से ज्ञात होता है- "शम्भो वः पातु।" एवं "नीलकण्ठस्य कण्ठः वः पातु।"[2] व तपस्वीया तपोधनश्च। ब्रह्मलग्नः समाधि से ज्ञात होता है कि वे योगी या योगाभ्यासी थे।

5. शूद्रक का समय

मृच्छकटिकम् में वर्णित सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति के आधार पर यह माना जाता है कि मृच्छकटिकम् गुप्तयुग के बाद एवं हर्षवर्धन के पूर्व की रचना है। इस समय किसी सार्वभौम साम्राज्य का अभाव था। राज्य अत्यन्त छोटे होते थे। राजा विलासी, अन्यायी, अत्याचारी एवं दुष्चरित्र होते थे। राजा के सम्बन्धी भी उनकी नकल करते थे और प्रजा पर मनमाना अत्याचार करते थे। अधिकारीगण भी भ्रष्ट एवं विलासी थे। राज्य में षडयन्त्रों का बोल-बाला था। राज्य के अधिकारी भी षडयन्त्रों में लिप्त रहते थे और प्रजा के साथ मिलकर सत्ता-परिवर्तन तक कर देते थे। प्रजा का भी नैतिक स्तर गिरा हुआ था। समाज में चोरी, जुआ, शराब आदि दुर्व्यसन व्याप्त था। लोग वेश्याओं के पास जाते थे। समाज में आर्थिक स्थिति भी अच्छी नहीं थी। ठीक ऐसी ही स्थिति मृच्छकटिकम् में भी प्रदर्शित किया गया है। अतः मृच्छकटिकम् की रचना पाँचवी सदी के अंतिम एवं छठी सदी के प्रथम भाग में हुई थी। इस प्रकार स्वाभाविक रूप से इसके रचयिता शूद्रक का भी यही

---

1 मृच्छकटिकम् , 1-4

2 वही, 1-1

समय निश्चित होता है। शूद्रक का वास्तविक उद्देश्य ही इस ग्रन्थ के माध्यम से लोगों को तत्कालीन समाज के यथार्थ स्थिति की जानकारी देना था।

(ख) 1. दशकुमारचरितम् का सामान्य परिचय

दण्डीकृत दशकुमारचरितम् सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य की एक अनूठी कृति है। दशकुमारचरिम् का वर्तमान उपलब्ध स्वरूप तीन भागों में विभाजित है-

(1) पूर्वपीठिका, जिसमें पाँच उच्छ्वास हैं,

(2) दशकुमारचरितम्, जिसमें आठ उच्छ्वास हैं, तथा

(3) उत्तरपीठिका, यह केवल अष्टम उच्छ्वास की उपसंहारमात्र है।

इनमें से केवल मध्य भाग ही दण्डी की वास्तविक रचना माना जाता है। इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि दण्डी ने आरम्भ में सम्पूर्ण दशकुमारचरितम् की रचना होगी। संभवतः बाद में ग्रन्थ के कुछ भाग नष्ट हो गये। इस पर दण्डी से निकट सम्बन्धित किसी विद्वान् ने, जो मूल ग्रन्थ की कथायोजना तथा शैली से भिज्ञ रहा होगा, पूर्व तथा उत्तरपीठिका जोड़कर ग्रन्थ को पूर्णता की ओर ले जाने का सफल प्रयास किया। प्रारम्भ में पूर्वपीठिका और अन्त में उत्तरपीठिका से सम्पुटित मूल ग्रन्थ ही आधुनिक समय में दशकुमारचरितम् नाम से प्रसिद्ध है।

दशकुमारचरितम् में दश राजकुमार अपने-अपने पर्यटनों, विचित्र अनुभवों तथा पराक्रमों का मनोरंजक वर्णन करते हैं। यह ग्रन्थ संस्कृत साहित्य की गौरवमयी गद्यकाव्यत्रयी में अपने आख्यानों की रोमाञ्चकता एवं कौतूहलपूर्णता के कारण एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यह दशकुमारों के चरित्र का श्लाघनीय संग्रह है। यद्यपि संस्कृत साहित्य आदर्शोन्मुख है, किन्तु

दशकुमारचरितम् इसका अपवाद है। यह एक यथार्थवादी कृति है, जिसके नायक अभीष्ट सिद्धि के लिए उचित-अनुचित, सभी प्रकार के साधन निःसंकोच अपनाते है। दशकुमारचरितम् में छल-कपट, हिंसा, परस्त्रीहरण एवं अवैध प्रेम का निर्वाध चित्रण है। दम्भियों, तपस्वियों, कपटी ब्राह्मणों, धूर्त कुट्टनियों, व्यभिचारिणी स्त्रियों तथा हृदयहीन वेश्याओं का सुन्दर चित्र उपस्थित हुआ है। दशकुमारचरितम् में प्रयुक्त यथार्थवादी शैली छठी-सातवीं शताब्दी के भारतीय समाज का चित्र रखने में समर्थ है। इसके पात्र समाज के चलते-फिरते जीवित प्राणी प्रतीत होते हैं। दण्डी की कथा का सच्चा रस मध्य वर्ग के यथार्थपूर्ण चित्रण में है, जहाँ इन्होंने निर्भीकता के साथ समाज के दोषों को अनावृत किया है। वर्गविशेष के प्रति दण्डी के मन में कोई मोह उजागर नहीं होता। इस दृष्टि से दण्डी का आदर्श सैद्धान्तिक होने की अपेक्षा व्यावहारिक अधिक है।

कीथ के अनुसार "दशकुमारचरितम्" की मुख्य रोचकता उसकी प्रतिपाद्य वस्तु में है, जिसमें निम्न स्तरीय जीवन और वृत्तान्त का, ऐन्द्रजालिक और मायावी साधुओं का, राजकुमारियों तथा कष्टापन्न राजाओं का, वेश्याओं का, कुशल चोरों का और उन अनुरक्त प्रेमियों का जो स्वप्न में अथवा भविष्यवाणी द्वारा अपने प्रेमी को प्राप्त करने के लिए प्रेरित होते हैं, स्पष्ट और चित्रात्मक वर्णन पाया जाता है।[1] वाल्कर ने लिखा है कि दशकुमारों के विषय में रचित प्रेमाख्यान दशकुमारचरितम् समसामयिक सांस्कृतिक जीवन पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है, उसमें ऐसे बहुत से महत्त्वपूर्ण सामाजिक तथा वाणिज्य सम्बन्धी तथ्य प्रकट होते हैं जो अन्य

---

[1] कीथ, ए.बी., संस्कृत साहित्य का इतिहास, (अनु., मंगलदेव शास्त्री), पृ. 374-75

किसी प्राचीन साहित्यिक स्रोत में नहीं मिलते।[1] यह स्पष्ट है कि दशकुमारचरितम् में समाज के उच्च वर्ग के साथ निम्न वर्ग का भी यथार्थ चित्रण समग्र रूप में हुआ है। एक ओर लेखक ने अपनी कृति में अधिकाधिक स्वाभाविकता लाने की चेष्टा की है और दूसरी ओर तत्कालीन सामाजिक वातावरण का भी स्पष्ट चित्रण किया है। दशकुमारचरितम् जहाँ एक ओर, अपने साथ इतिहास के एक पट को लाकर खोल देती है, वहीं हमें साहित्य स्रष्टा के उस मन को भी दिखाती है, जिसने 'उदात्त' की परम्परा को अपनी "इति" न मानकर समाज की गहराइयों में उतरने की चेष्टा की थी।[2] साहित्यिक विधा में समाज की बुराइयों का यथार्थ चित्रण लेखक की साहसिकता एवं बुद्धि कला का प्रमाण मानी जा सकती है।

दशकुमारचरितम् में रस के परम्परागत स्थान को महत्त्वपूर्ण माना गया है। संस्कृत साहित्य विधा की परम्परा के अनुसार इसमें भी मुख्य रूप से शृंगारिक तथा वीररस प्रधान भावनाओं की भरमार पाते हैं, हास्य भावों का भी सुन्दर विकास इसमें देखने को मिलता है। संयोग और वियोग दोनों पक्षों का सफल चित्रण लेखक द्वारा किया गया है। जैसे सोती हुई अम्बालिका, गेंद खेलती हुई कन्दुकावती तथा अन्य वर्णन जो उनके प्रेमियों में उनके प्रति उत्कण्ठा पैदा करते हैं तथा रतिभाव उत्पन्न करते हैं। इसमें कुछ ऐसे चरित्रों का भी सुन्दर विकास हुआ है जो हमें बरबस ही हँसा देते हैं। लेखक द्वारा राजा चण्डवर्मा तथा वसुपालित आदि अनेक हास्यकार चरित्रों को बखूबी चित्रित किया गया है।

दशकुमारचरितम् की कथा सरल, साधारण एवं मनोरजंक है। इसकी कहानी घटनाओं की महत्त्वपूर्ण शृंखला प्रस्तुत करती है। कहानी में

---

1 वाल्कर, बी., हिन्दू वर्ल्ड, पृ. 268

2 राघव, रांगेय, दशकुमारचरित, भूमिका, पृ. 20

अनेकानेक विच्छिन्न घटनाओं का सुन्दर संघटन है, इन्हें बहुत बुद्धिमता से एक ही सूत्र में बाँध दिया गया है।[1] दशकुमारचरितम् के निर्माण में दण्डी ने कथानक की रमणीयता को अधिक प्रश्रय दिया है। इसका कथानक निश्चित रूप से बहुत से भिन्न-भिन्न रुचिकर उपाख्यानों तथा उपकथाओं से युक्त है। यदि दण्डी द्वारा मुख्य कथा में परिचित करायी गयी कहानियों के कथानक स्वतन्त्र रूप से देखें तो हम पाते हैं कि लेखक ने अद्भुत बुद्धिमत्तापूर्णकला का प्रदर्शन किया है। बीच-बीच में आयीं उपकथाएँ इस ढंग से संयुक्त कर दी गयी हैं कि कथा के स्वाभाविक विकास में बाधा नही पड़ती। मित्रगुप्त की कहानी में धूमिनी, गोमिनी, निम्बवती तथा नितम्बवती की कहानियां ऐसे कलात्मक एवं थर्किक ढंग से उत्कीर्ण की गयी हैं कि वे मित्रगुप्त की कथा के स्वाभाविक विकास को बनाये रखकर उसमें रोचकता पैदा करती है। उनमें से प्रत्येक कहानी के खुद के पूर्ण विकसित कथानक है। डॉ. बाबूराम त्रिपाठी के अनुसार, "दण्डी का दशकुमारचरितम् एक उत्कृष्ट गद्यकाव्य है, इसका कथानक राजवाहन आदि दशकुमारों के वैचित्र्यपूर्ण यात्रा विलास प्रसंगों के आधार पर कल्पित किया गया है, सम्पूर्ण वर्णन बड़ा ही रोमांसपूर्ण, कौतूहलपूर्ण तथा सजीव है। उत्तरोत्तर रुचिवर्धक सभी रसों से पूर्ण यह एक अद्वितीय उपन्यास है।[2]

दशकुमारचरितम् के विषय तथा अभिव्यञ्जना शैली के निर्वाह में पर्याप्त सन्तुलन पाया जाता है। कथा में कहीं व्यंग्य है, कहीं हास्य है और कहीं गम्भीर वर्णन है। दशकुमारचरितम् की भाषा नैसर्गिक, प्रवाहपूर्ण, मंजी हुई तथा मुहावरेदार है। इसके वर्णनों में प्रतिदिन के कार्य में प्रयुक्त होने वाले गद्य का प्रयोग किया गया है। लम्बे लम्बे समासों के स्थान पर छोटे-छोटे

---

1 स्ट्टले, जे., ए डिक्शनरी ऑफ हिन्दुज्म, पृ. 69,

2 संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 299-300

वाक्यों का ही प्रयोग किया गया है। निःसन्देह दशकुमारचरितम् में भाषा-शैली में सरलता, सजीवता तथा प्रभावोत्पादकता का अद्भुत समन्वय दिखाई पड़ता है। इसमें भावपक्ष और कलापक्ष का समन्वित रूप सुन्दर दीख पड़ता है। यद्यपि यहाँ भावपक्ष की प्रधानता है फिर भी कलापक्ष गौण नहीं हुआ है। विशद चरित्र-चित्रण, नैसर्गिक बुद्धि विलास, शिष्ट परिहास, विषयान्तरों की न्यूनता, रसानुकूल शब्द विन्यास, यथार्थ और आदर्श का सुन्दर सामञ्जस्य आदि विशेषताएं दशकुमारचरितम् को संस्कृत गद्य साहित्य में विशिष्ट स्थान प्रदान करती हैं।

2. दशकुमारचरितम् की संक्षिप्त कथा

मगधदेश की राजधानी पुष्पपुरी (वर्तमान पटना) पर राजहंस का शासन था। उसके 3 मंत्री थे- धर्मपाल, पद्मोद्भव और सितवर्मा। इनमें से (1) धर्मपाल के सुमन्त्र, सुमित्र और कामपाल, (2) पद्मोद्भव के सुश्रुत और रत्नोद्भव, (3) सितवर्मा के सुमति और सत्यवर्मा पुत्र थे। इनमें से कामपाल यायावर (आवारा) था, अतः घर छोड़कर चला गया। रत्नोद्भव समुद्री व्यापार में लग गया और सत्यवर्मा संसार की असारता से खिन्न होकर तीर्थयात्रा पर निकला। शेष 4 मंत्रिपुत्र (सुमन्त्र, सुमित्र, सुश्रुत और सुमति) बड़े होकर राजहंस के मंत्री बने। राजहंससर्वथा सुखी होने पर भी सन्तानहीनता के कारण बहुत चिन्तित थे।

मालव-नरेश मानसार ने एक बार मगध पर आक्रमण किया। वह परास्त होकर बन्दी बनाया गया। राजहंस ने दया करके उसे मुक्त कर दिया और उसका राज्य उसे लौटा दिया। पराजित मानसार ने शिव की आराधना से एक मारक गदा प्राप्त की और पुनः राजहंस पर चढ़ाई की। इस बार मानसार की जीत हुई। घायल राजहंस वन में पहुँचे। मन्त्रियों सहित रानियाँ वन में सुरक्षित पहुँच गई थीं। वे पति को लापता समझकर सती होने की

तैयारी करती हुई विलाप कर रही थीं, तभी राजहंस ने वहाँ पहुँचकर उन्हें बचा लिया।

स्वस्थ होकर राजहंस ने वामदेव नामक एक तपस्वी की सेवा की और उन्हें अपनी दुःखगाथा सुनाई। ध्यान लगाकर वामदेव ने बताया कि राजहंस के एक पुत्र होगा। वह अपने साथियों के साथ विजय-अभियान करके खोया हुआ राज्य पुनः प्राप्त करेगा और शत्रुओं का नाश करेगा। वामदेव की भविष्यवाणी सत्य हुई। राजा के पुत्र हुआ। उसका नाम राजवाहन रखा गया। लगभग इसी समय 4 मंत्रियों के 4 पुत्र हुए। उनके नाम मित्रगुप्त, मंत्रगुप्त, विश्रुव और प्रमति रखे गए। राजहंस राजवाहन सहित इन चार मंत्रिपुत्रों का भी पालन करने लगे। तभी उनके यायावर मंत्रिपुत्र कामपाल का पुत्र अर्थपाल, समुद्री व्यापार पर गए रत्नोद्भव का पुत्र पुष्पोद्भव और तीर्थयात्रा पर गए सत्यवर्मा का पुत्र सोमदत्त अपने पिताओं के विभिन्न दुर्घटनाओं में ग्रस्त हो जाने के कारण राजहंस के पास लाए गए।

इसी समय राजहंस को ज्ञात हुआ कि मानसार के साथ युद्ध में उनके हारने से खिन्न उनका मित्र मिथिला नरेश प्रहारवर्मा हताश होकर अपने परिवार के साथ राज्य की ओर लौट रहा था। मार्ग में शबरसेना ने आक्रमण कर उसे मार दिया। रानियाँ विमुक्त हो गईं। उस विपन्न अवस्था में रानियाँ दो पुत्रों को जन्म देकर दिवंगत हो गई। वे दोनों बालक उपहारवर्मा और अपहारवर्मा भी राजहंस के पास लाए गए। इस प्रकार राजहंस ने 10 कुमारों- 1 अपना पुत्र, 7 मन्त्रिपुत्र, 2 प्रहारवर्मा के पुत्र का पालन किया।

ये दसों कुमार बड़े होकर दिग्विजय के लिए निकले और अपने अभियान के समय सभी एक-दूसरे से अलग हो गए। अन्त में ये सभी कुमार एक एक करके राजवाहन को मिलते गए और अपनी साहसिक विजयगाथा

सुनाते रहे। इन्हीं दस कुमारों की साहसिक विजयगाथाओं का संग्रह दशकुमारचरितम् है।

पूर्वपीठिका में पाँच उच्छ्वास हैं। इनमें क्रमशः इन बातों का वर्णन है- उच्छ्वास (1) राजवाहन का जन्म (कुमारोत्पत्तिः); (2) मन्त्रिपुत्रों का जन्म (द्विजोपकृतिः); (3) सोमदत्त के साहसिक कार्य (सोमदत्तचरितम्); (4) पुष्पोद्भव की साहसिक कथा (पुष्पोद्भवचरितम्); (5) राजवाहन का अवन्तिसुन्दरी से विवाह (अवन्तिसुन्दरीपरिणयः)।

मुख्य दशकुमारचरितम् में 8 उच्छ्वास हैं। इनमें क्रमशः इन कुमारों का चरित वर्णित है -

(1) राजवाहन-चरित,

(2) अपहारवर्मा-चरित,

(3) उपहारवर्मा-चरित,

(4) अर्थपाल-चरित,

(5) प्रमति-चरित,

(6) मित्रगुप्त-चरित,

(7) मन्त्रगुप्त-चरित,

(8) विश्रुत-चरित।

उत्तरपीठिका ग्रन्थ का उपसंहार है। इसमें वर्णन किया गया है कि सभी कुमार राजहंस और वसुमती से मिलते हैं। राजहंस दसों कुमारों को

अपने जीते हुए राज्य सौंपकर वानप्रस्थ स्वीकार करते हैं और दसों कुमारों ने नीतिपूर्वक अपने राज्य का शासन किया।[1]

3. महाकवि दण्डी सातवीं शती के महान् गद्यकार

संस्कृत में गद्य का प्रयोग प्राचीन वैदिक काल में ही शुरू हो गया था। उपनिषदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राचीन गद्य के प्रयोग के दर्शन होते हैं। कृष्णयजुर्वेद, ब्राह्मण तथा उपनिषद् अधिकांश गद्य में ही है, तत्पश्चात् महाभारत में हमें गद्य का प्रयोग दिखाई देता है। यास्क (700 ई.पू.) का निरुक्त गद्य में विरचित है तथा पतञ्जलि (150 ई.पू.) का महाभाष्य गद्य में प्रणीत हुआ है। संस्कृत साहित्य में गद्य का उपयोग प्रधानतया टीकाओं में, व्याकरण ग्रन्थों में, कथाओं तथा आख्यायिकाओं में हुआ है। कहा जा सकता है कि गद्यकाव्य संस्कृत साहित्य की एक परम प्राचीन शाखा है, लेकन पूर्व के लेखकों तथा रचनाओं का इतिहास काल के गर्त में चला गया है।

गद्य के विकसित साहित्यिक रूप का दर्शन हमें सुबन्धु, दण्डी और बाण की रचनाओं में प्राप्त होता है। संस्कृत गद्य साहित्य को समृद्ध एवं विकसित रूप प्रदान करने में इन तीनों लेखकों का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वासवदत्ता के प्रणेता आचार्य सुबन्धु संस्कृत गद्य साहित्य के प्रथम गद्यकार हैं। सुबन्धु का समय षष्ठ शती का अन्त माना जाता है। संस्कृत गद्य साहित्य के इतिहास में सातवीं शती बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। महान गद्यकार दण्डी एवं बाण का आविर्भाव काल सातवीं शताब्दी है। हर्षवर्धन के सभापण्डित सिद्ध होने से बाणभट्ट का समय ईसा की सातवीं शती निर्धारित किया जाता है। परवर्ती कवियों के उद्धरणों से भी इनका काल

---

[1] झा, विश्वनाथ, दशकुमारचरितम्।

अपने जीते हुए राज्य सौंपकर वानप्रस्थ स्वीकार करते हैं और दसों कुमारों ने नीतिपूर्वक अपने राज्य का शासन किया।[1]

3. महाकवि दण्डी सातवीं शती के महान् गद्यकार

संस्कृत में गद्य का प्रयोग प्राचीन वैदिक काल में ही शुरू हो गया था। उपनिषदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राचीन गद्य के प्रयोग के दर्शन होते हैं। कृष्णयजुर्वेद, ब्राह्मण तथा उपनिषद् अधिकांश गद्य में ही है, तत्पश्चात् महाभारत में हमें गद्य का प्रयोग दिखाई देता है। यास्क (700 ई.पू.) का निरुक्त गद्य में विरचित है तथा पतञ्जलि (150 ई.पू.) का महाभाष्य गद्य में प्रणीत हुआ है। संस्कृत साहित्य में गद्य का उपयोग प्रधानतया टीकाओं में, व्याकरण ग्रन्थों में, कथाओं तथा आख्यायिकाओं में हुआ है। कहा जा सकता है कि गद्यकाव्य संस्कृत साहित्य की एक परम प्राचीन शाखा है, लेकन पूर्व के लेखकों तथा रचनाओं का इतिहास काल के गर्त में चला गया है।

गद्य के विकसित साहित्यिक रूप का दर्शन हमें सुबन्धु, दण्डी और बाण की रचनाओं में प्राप्त होता है। संस्कृत गद्य साहित्य को समृद्ध एवं विकसित रूप प्रदान करने में इन तीनों लेखकों का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वासवदत्ता के प्रणेता आचार्य सुबन्धु संस्कृत गद्य साहित्य के प्रथम गद्यकार हैं। सुबन्धु का समय षष्ठ शती का अन्त माना जाता है। संस्कृत गद्य साहित्य के इतिहास में सातवीं शती बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। महान गद्यकार दण्डी एवं बाण का आविर्भाव काल सातवीं शताब्दी है। हर्षवर्धन के सभापण्डित सिद्ध होने से बाणभट्ट का समय ईसा की सातवीं शती निर्धारित किया जाता है। परवर्ती कवियों के उद्धरणों से भी इनका काल

---

[1] झा, विश्वनाथ, दशकुमारचरितम्।

सातवीं शताब्दी निश्चित होता है। बाण का समय संस्कृत साहित्य के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सातवीं शताब्दी विद्वानों, गद्य लेखकों एवं कवियों के लिए प्रसिद्ध है। मयूरकवि, मानतुङ्ग, महिस्वामी तथा न्यायवार्तिक प्रणेता उद्योतकर का आविर्भाव काल सातवीं शती है। उसी समय दण्डी ने भी दशकुमारचरितम् तथा काव्यादर्श की रचना करके सातवीं शताब्दी के साहित्य इतिहास को गौरवान्वित किया।

4. दशकुमारचरितकार दण्डी का सामान्य परिचय

यद्यपि संस्कृत साहित्य के अन्य विद्वानों की तरह दण्डी के समय और जीवन के विषय में निश्चयपूर्वक हम कुछ नहीं कह सकते, तथपि आन्तरिक साक्ष्यों एवं उनके ग्रन्थों के आधार पर उनके जीवन एवं समय के बारे में अनुमान लगा सकते हैं। दण्डी प्रणीत ग्रन्थों, विशेषकर अवन्तिसुन्दरीकथा के आधार पर उनके जीवन, जीवनचरित एवं काल निर्धारण पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। काव्यादर्श और दशकुमारचरितम् के आधार पर मालूम होता है कि दण्डी दाक्षिणात्य थे और विदर्भ देश से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। काव्यादर्श में उन्होंने महाराष्ट्री, प्राकृत तथा वैदर्भी शैली की प्रशंसा की है। दशकुमारचरितम् में कलिंग और आन्ध्र देशों के उल्लेख से, ''कावेरीतीरपत्तन' जैसे शब्दों के प्रयोग से तथा दक्षिण में प्रचलित सामाजिक और पारिवारिक प्रथाओं के वर्णन से भी उनके दाक्षिणात्य होने की पुष्टि होती है।

अवन्तिसुन्दरी में उल्लिखित तथ्यों के आधार पर दण्डी का जीवन चरित इस प्रकार प्रकट होता है। उत्तर-पश्चिम भारत में आनन्दपुरा नामक स्थान में ब्राह्मणों की एक बस्ती थी। कौशिक गोत्र का एक ब्राह्मण परिवार व्याकरण तथा मन्त्रशास्त्र का ज्ञाता था। कालान्तर में यह परिवार नासिक के

पास मूलदेव द्वारा बसायी गयी अलकपुरा नामक नगर में बस गया। इसी परिवार में नारायनस्वामीन् पैदा हुआ जो अपने ज्ञानचक्षु से काफी प्रसिद्ध हुआ। उनको दामोदर नामक एक पुत्र पैदा हुआ। यही दामोदर महाकवि भारवि के माध्यम से राजा विष्णुवर्धन का मित्र बन गया-

"स मेधावी कविर्विद्वान् भारविं प्रभवं गिराम् ।

अनुरुध्याकरोन्मैत्रीं नरन्द्रे विष्णुवर्धने॥ " (1/23)

दण्डी महाकवि भारवि के परम मित्र दामोदर के प्रपौत्र थे। दण्डी के पिता वीरदत्त एक दार्शनिक थे। बचपन में ही इनके माता-पिता का देहान्त हो गया था। एक बार दामोदर ने विष्णुवर्धन के बहुत दबाव देने पर मांस खा लिया। बहुत लज्जित होकर उन्होंने अपने पाप के प्रायश्चित के लिए तीर्थ यात्रा करनी शुरु कर दी। इसी अपने भ्रमण के दौरान वे गंग देश के राजा दुर्विनीत से बहुत प्रभावित हुए तथा उन्हीं के साथ रहने लगे। उस समय दामोदर बीस वर्ष की आयु के थे। इनकी कविता से प्रभावित होकर राजा विष्णुवर्धन ने उन्हें अपने दरबार में बुला लिया और तब से दामोदर वहीं काञ्चीपुर में रहने लगे। इसी अन्तराल में उन्होंने विवाह किया और तीन पुत्र प्राप्त किये, ये तीनों बालक बड़े कुशाग्र बुद्धि के थे। इनमें मनोरथ को वीरदत्त सहित चार पुत्र पैदा हुए। वीरदत्त का विवाह गौरी नामक कन्या से हुआ।

इन्हीं वीरदत्त एवं गौरी ने अनेक कन्याओं के बाद दण्डी नामक बालक को काञ्चीपुर में जन्म दिया। अतः हिन्दुओं की पवित्र नगरी काञ्ची (आधुनिक काञ्चीवरम्) दण्डी की जन्म भूमि थी। सात वर्ष की अवस्था में दण्डी का उपनयन संस्कार हुआ तथा शीघ्र ही उनके माता-पिता का देहान्त हो गया। कुछ अन्तराल के बाद शत्रु देश ने काञ्चीपुर पर आक्रमण कर

दिया। फलस्वरूप अन्य लोगों के साथ दण्डी भी काञ्चीपुर छोड़कर इधर-उधर भटकने लगे।

5. दण्डी का समय

पल्लव नरेश के सामने गन्धर्व बताता है कि दण्डी के प्रपितामह दामोदर ने भारवि के माध्यम से राजा विष्णु वर्धन की मित्रता प्राप्त की। गंग नरेश दुर्विनीत के साथ जब वे रह रहे थे, उस समय बीस वर्ष की आयु के थे। इसका अर्थ होता है कि सिंहाविष्णु, दुर्विनीत, विष्णुवर्धन, भारवि तथा दामोदर समकालीन थे। साहित्य इतिहास में किरातार्जुनीय का लेखक भारवि ही प्रसिद्ध है, अन्य किसी भारवि की प्रसिद्धि का उल्लेख नहीं मिलता। अवन्तिसुन्दरी में उल्लिखित महाशैव, महाप्रभव, गवां प्रभव आदि विशेषण भारवि की ओर इंगित करते हैं।

634 ई. के ऐहोल के शिलालेख से ज्ञात होता है कि 634 ई. में भारवि, कालिदास के समान ही ख्याति प्राप्त कर चुके थे।[1] पूर्व चालुक्य राज्य के संस्थापक पुलकेशी द्वितीय का भाई ही विष्णुवर्धन था, जिसने 615 से 633 ई. तक शासन किया।[2] मैसूर आर्कियोलाजिकल रिपोर्ट, 1921 से भी पता चलता है कि गंग राज्य में 605 से 650 के बीच दुर्विनीत का शासन था। राजा के लिए प्रयुक्त 'भ्रमणशीलकीर्तेः'' यह विशेषण स्पष्ट करता है कि दामोदर उस समय दुर्विनीत के दोस्त बने जब वह शासक नहीं था। अन्यथा राज्य से बाहर इस तरह भ्रमण करना सम्भव न हो पाता। इसका यह तात्पर्य हुआ कि दामोदर 600 ई. के आस-पास दुर्विनीत के सम्पर्क में आये। चूँकि दामोदर उस समय 20 वर्ष की आयु के थे, अतः उनका जन्म

---

1 स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः।

2 मजुमदार, आर.सी. तथा अन्य, क्लासिकल एज, पृ. 231-241

छठी शताब्दी के अन्त में हुआ होगा। राजा सिंहविष्णु ने 575 से 600 ई. के बीच में राज्य किया, जो दामोदर के छठी शताब्दी में जन्म लेने को प्रमाणिक बनाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दामोदर के प्रपौत्र दण्डी का समय सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध रहा होगा।

नवम शताब्दी तथा उसके बाद के ग्रन्थों में दण्डी एवं उनकी कृतियों का उल्लेख पाया जाता है। यह निश्चित है कि उनका समय नवम शती के पीछे कदापि नहीं हो सकता। डाक्टर वारनेट का कथन है कि सिंघली भाषा के अलंकार ग्रन्थ "सिय-बस-लकर" (स्वभावालंकार) की रचना काव्यादर्श के आधार पर की गई है।[1] इसके रचयिता राजा सेन प्रथम का समय 846-866 ई. था। 814 ई. के कन्नड़ी अलङ्कार ग्रन्थ "कवि राजमार्ग" में भी काव्यादर्श की यथेष्ट छाप दिखाई पड़ती है। इससे यह द्योतित होता है कि दण्डी का समय 800 ई. के पहले ही निश्चित किया जाना चाहिए। कई विद्वानों के अनुसार काव्यादर्श में वर्णित राजवर्मा ही काञ्ची के पल्लव नरेश है। राजवर्मा का समय ई. 690 से 725 तक माना गया है। इस कथन की पुष्टि इसके द्वारा भी मानी गई है कि काव्यादर्श में कालिदास एवं बाण के सदृश वर्णन पाया जाता है। प्रोफेसर एवं इतिहासज्ञ पाठक के अनुसार काव्यादर्श में निर्वर्त्य तथा विकर्य एवं प्राप्य हेतु का विचार वाक्यपदीप कर्त्ता भर्तृहरि (650 ई.) के समान किया गया है। काव्यादर्श की रचना के बाद ही उसके दण्डी द्वारा रचित होने का प्रमाण मिलना आरम्भ हो जाता है। विज्जका नामक कवयित्री जिसे चालुक्यवंशी पुलकेशी द्वितीय के पुत्र,

---

1 डॉ. बार्नेट, जर्नल ऑफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, 1905, पृ. 849

चन्द्रादित्य की पत्नी विजय महादेवी माना जाता है,[1] के नाम से निर्देशित एक श्लोक ''शार्ङ्गधरपद्धति' में वर्णित है। काव्यादर्श के मङ्गलाचरण श्लोक के अन्तिम चरण, सर्वशुक्ला सरस्वती, को सपरिहास उद्धृत करती हुई कहती है कि स्वयं को साक्षात् सरस्वती अथवा वाग्देवी मानने वाली साँवले वर्ण की महादेवी विज्जका सरस्वती को सर्वशुक्ला कहने वाले दण्डी को सपरिहास वृथावाद के दोष से मढ़ती है।[2] विज्जका का समय सातवीं शताब्दी ई. का उत्तरभाग है।[3] मुकुलभट्ट तथा मम्मटभट्ट ने क्रमशः अपने अलङ्कार ग्रन्थों ''अभिधावृत्तिमातृका'' तथा ''शब्दव्यापारविचार'' में विज्जका के कई श्लोकों को उद्धृत किया है। ये तथ्य भी विज्जका का समय 850 ई. के पूर्व होने को प्रमाणित करते हैं। प्रोफेसर काणे दण्डी कवि को 600 ई. के समीप मानते हैं। जब कि अन्य विद्वान इन्हें सातवीं शती के अन्तिम चरण में मानते हैं, यहां काणे महोदय का कथन कुछ शिथिल प्रतीत होता है।

यद्यपि दण्डी के आविर्भाव काल के विषय में मतैक्य नहीं है तथापि इन्हें 500 ई. से 800 ई. के बीच निश्चित करना पड़ता है। काव्यादर्श के कुछ पद्यों में कालिदास का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है अतः दण्डी कालिदास के बाद के हैं। इसके अतिरिक्त काव्यादर्श में पांचवी शताब्दी के राजा प्रवरसेन रचित 'सेतुबन्ध' नामक प्राकृत काव्य का उल्लेख है।

---

[1] आगशे, दशकुमारचरित, भूमिका, पृ. 59; काणे, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स, पृ. 128; डी. के. गुप्ता, ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ दण्डिन् एण्ड हिज वर्क्स, पृ. 83-84

[2] नीलोत्पलदलश्यामां विज्जकां मामजानता।
वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती।।
शार्ङ्गधरपद्धति, 180, सूक्तिमुक्तावली, 4.96

[3] शास्त्री, नीलकण्ठ, अर्ली हिस्ट्री ऑफ डेकन, भाग 4, पृ. 245

दण्डी की रचनाओं में उल्लिखित तथ्यों तथा इतर प्रमाणों के अनुसार इस महाकवि का समय सातवीं शताब्दी का अन्तिम चरण ज्ञात होता है। डॉ. बेलवेलकर,[1] प्रोफेसर आर. नरसिंहाचार्य[2] ने दण्डी का समय सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना है। डॉ. धर्मेन्द्र कुमार गुप्ता ने पुष्ट एवं थर्किक विश्लेषण द्वारा इनका समय सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध सिद्ध करने का सार्थक प्रयत्न किया है।[3] पं. बलदेव उपाध्याय दण्डी को सप्तम शती के अन्त तथा अष्टम के प्रारम्भ में मानते हैं।[4] अन्य विद्वान् आन्तरिक साक्ष्यों के आधार पर दण्डी को दामोदर अथवा भारवि का प्रपौत्र मानकर उनका उक्त समय ही निर्धारित करते हैं। अतः निष्कर्षतः महाकवि दण्डी को सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मानना उचित प्रतीत होता है।

इस प्रकार दण्डी सातवीं शताब्दी के एक महान गद्यकार सिद्ध होते हैं। संस्कृत के गद्य लेखकों में केवल दण्डी ही ऐसे दिखाई देते हैं जिन्होंने एक व्यावहारिक मध्यम मार्ग की शैली अपनायी है। जीवन के कड़वे सत्यों का उद्घाटन करने वाले दण्डी विषयानुरूप यथार्थ शैली के विशेष प्रेमी हैं। कहा जा सकता है कि विलक्षण प्रतिभा के धनी दण्डी सातवीं शती के महान गद्यकार हैं।

6. कृतियाँ

राजशेखर के श्लोक में दण्डी की तीन कृतियों की लोकविश्रुति की चर्चा का उल्लेख प्राप्त होता है-

---

1 काव्यादर्श पर टिप्पणी, पृ. 176-77

2 पाठक, इण्डियन एण्टिक्वेरी, 1912 ई., पृ. 90

3 गुप्ता, डी.के., ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ दण्डिन् एण्ड हिज वर्क्स, 1970, पृ. 83-84

4 संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 434

"त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः।।[1]

यद्यपि राजशेखर ने इन तीन ग्रन्थों को स्पष्ट नहीं किया है फिर भी दण्डी की कृतियों के निर्धारण में इस साक्ष्य से महत्त्वपूर्ण मदद मिलती है। विद्वानों में इन तीनों ग्रन्थों के विषय में मतैक्य नहीं है। काव्यादर्श को आचार्य दण्डी की कृति मानने के सम्बन्ध में सभी एकमत हैं, यद्यपि इस सम्बन्ध में विवाद है कि गद्यकार दण्डी तथा काव्यादर्शकार दण्डी एक ही हैं। आज काव्यादर्श और दशकुमारचरितम् विद्वानों के एक बड़े वर्ग द्वारा दण्डी प्रणीत माने जाते हैं। इसमें काव्यादर्श काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ है और दशकुमारचरितम् गद्यकाव्य की कोटि में रखा गया है। लेकिन तृतीय ग्रन्थ के विषय में आज तक विद्वानों में मतभेद बना हुआ है।

जैकोबी तथा प्रेमचन्द्र तर्क वागीश का मानना है कि दण्डी की तृतीय रचना 'छन्दोविचिति' है। इसका आधार यह प्रदर्शित किया जाता है कि काव्यादर्श में उस नाम का उल्लेख आया है।[2] आमतौर पर काव्यादर्श में छन्दोविचिति का उल्लेख होने से ही इसको दण्डी की एक रचना के रूप में मान लेना समीचीन नहीं लगता, सिर्फ नामोल्लेख मात्र ही छन्दोविचिति को दण्डीकृत मानने का आधार नहीं हो सकता। छन्दोविचिति का उल्लेख इसके पूर्व भी ग्रन्थों में आ चुका है। इसके उदाहरण है : कौटिल्य का अर्थशास्त्र, आपस्तम्ब का धर्मसूत्र यह नाम छन्द शास्त्र सम्बन्धी किसी भी ग्रन्थ का हो सकता है।

---

1 शार्ङ्गधरपद्धति, 174; सूक्तिमुक्तावली, 4.74

2 "छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रपञ्चो निरूपितः।" काव्यादर्श, 1.12

कुछ लोग कला परिच्छेद को दण्डी की तृतीय रचना के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं, ऐसा मानने का कारण भी काव्यादर्श में इसका उल्लेख है-

"इत्थं कलाचतुष्षष्टिविरोधः साधु नीयताम् ।

तस्याः कलापरिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यति।।[1]

इस मत को भी प्रथम मत की तरह उसी आधार पर समीचीन नहीं माना जा सकता। साथ ही यह भी विचारणीय है कि परिच्छेद, आश्वास, तरंग, स्तवक आदि शब्द साधारणतया विभागों को इंगित करने के लिए प्रयोग किये जाते हैं।

जयमङ्गला के कामसूत्र की व्याख्या में कुछ पद्यों को उद्धृत किया गया है।[2] कला की व्याख्या में "दुर्वाचकयोगाः" तथा "आश्वासजनयति राजमुख्यमध्ये" आदि साक्ष्य प्रकट करते हैं कि जब जयमङ्गल लिखा गया उस समय काव्यादर्श में कला से सम्बन्धित एक भाग था। इन पद्यों के सम्बन्ध चौसठ कलाओं में से दो कलाओं क्रमशः दुर्वाचक योग तथा काव्य समस्यापूरण से है। ये पद्य आज काव्यादर्श में उपलब्ध नहीं होते, इस बात की काफी संभावना है कि टीकाकार यशोधर ने इन पद्यों को काव्यादर्श के विलुप्त हो गये कला परिच्छेद से उद्धृत किया है। कीथ का मानना है कि छन्दोविचिति तथा कला परिच्छेद दण्डी के अलग स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर काव्यादर्श के ही परिच्छेद रहे होंगे। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि मालतीमाधव के

---

1 काव्यादर्श, 3.171

2 दष्ट्राग्रध्र्या प्राग्यो द्रावक्ष्मामम्बवन्तः स्थामुच्चिक्षेप।
देवध्रुटक्षिद्धयत्विक् स्तुत्यो युष्मान् सोऽव्यात्सर्पात्केतुः।।
यशोधर, जयमंगला टीका, 1.3.15

टीकाकार जगद्धर ने अपनी टीका में दण्डी के नाम से कुछ पद्य उद्धृत किये हैं। इनमें से एक दो पद्य ऐसे भी हैं, जिन्हें वर्तमान काव्यादर्श में समायोजित करना सम्भव नहीं है। इस पद्य का सम्बन्ध प्रकरण नामक रूपक भेद से है। काफी सम्भावना है कि काव्यादर्श के कला परिच्छेद में नाट्य कला के अन्तर्गत रूपक और रूपक भेदों की चर्चा में यह पद्य रहा हो। रत्नश्रीज्ञान ने काव्यादर्श के तस्याः कलापरिच्छेदे इत्यादि की अपनी टीका में लिखा है कि कला परिच्छेद काव्यादर्श का एक परिच्छेद है, परन्तु वह यहाँ प्रचलित नहीं है।[1] उस पद्य की टीका में एक अन्य टीकाकार तरुण वाचस्पति भी रत्नश्रीज्ञान के कथन का अनुकरण करते हैं। ऐसा मानना समीचीन एवं तर्कसंगत प्रतीत होता है कि कला परिच्छेद काव्यादर्श का एक परिच्छेद रहा होगा, जो बाद में लुप्त हो गया। इस परिच्छेद में चौसठ कलाओं का निरूपण रहा होगा, जिसमें नाट्य तथा नृत्य, गीत आदि कलाओं से सम्बन्धित वर्णन रहा होगा।

तृतीय मतानुसार कुछ लोग मृच्छकटिकम् को दण्डी की तीसरी रचना सिद्ध करने का प्रयास करते है। पिशेल आदि कुछ विद्वान् निम्नलिखित आधारों पर मृच्छकटिकम् को दण्डी की तृतीय रचना मानते हैं-

(क) "लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः.....।" यह पद्य काव्यादर्श[2] तथा मृच्छकटिकम्[3] दोनों में उपलब्ध है।

(ख) मृच्छकटिकम् तथा दशकुमारचरितम् दोनों में सामाजिक चित्रण है, दोनों कृतियाँ समाज का यथार्थ एवं नग्न चित्र उपस्थित करती हैं तथा इनकी विषय तथा अभिव्यञ्जना शैली में काफी समानता है। लेकिन यह मत

---

1 "चतुर्थः कलापरिच्छेदोऽस्य दण्डिनोऽस्ति, सत्विह न प्रवर्तते।"

2 काव्यादर्श, 2.226, 362

3 मृच्छकटिकम् , 1.34

भी समीचीन नहीं जान पड़ता क्योंकि ठीक वही पद्य भास के बालचरित तथा चारुदत्त में भी आया है। यदि पद्यविशेष की उपस्थिति के आधार पर मृच्छकटिकम् को दण्डी की तीसरी रचना मानते हैं तो उसी आधार पर ये दोनों ग्रन्थ भी दण्डी प्रणीत माने जाने चाहिए। परन्तु भास के नाटकों की खोज के उपरान्त ये तर्क निराधार सिद्ध हो जाते हैं तथा दूसरे तर्क को भी बहुत मजबूत आधार नहीं माना जा सकता।

चतुर्थ मत के अनुसार द्विसन्धानकाव्य को दण्डी की तीसरी रचना माना जाता है। भोजदेव ने द्विसन्धानकाव्य को दण्डी की कृति के रूप में उल्लेख किया है- "दण्डिनो धनञ्जयस्य वा द्विसन्धाने।" [1] द्विसन्धानकाव्य, आज अनुपलब्ध, महाकाव्य रूप में रहा होगा। आचार्य भोज के अनुसार इसमें श्लेष की सहायता से रामायण और महाभारत की कथाओं को एक साथ काव्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उक्त काव्य से भोज ने एक श्लोक भी उद्धृत किया है।[2] सम्भव है दण्डी ने द्विसन्धानकाव्य लिखा हो, जो अब उपलब्ध न हो लेकिन कोई अन्य प्रमाण इसके समर्थन में उपलब्ध नहीं होता।

सन् 1924 ई. में एम. आर. कवि महोदय ने एक अपूर्ण गद्य काव्य अवन्तिसुन्दरीकथा को सम्पादित एवं प्रकाशित किया था।[3] इसके सम्पादक एम.आर. कवि महोदय ने इसे दण्डी की तीसरी रचना के रूप में स्वीकार किया है। अवन्तिसुन्दरीकथा और दशकुमारचरितम् दोनों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि इनके कथानकों में कोई भिन्नता नहीं है, अन्तर केवल शैली

---

1 राघवन, वी. भोजश्रृंगारप्रकाश, पृ. 836-38 (मद्रास, 1963)

2 "उदारमहिमारामः प्रजानां हर्षवर्धनः।
धर्म प्रभव इत्यासीत् ख्यातो भरत पूर्वजः।" भोजः श्रृंगारप्रकाश, पृ. 318

3 दक्षिण भारत सीरीज में, मद्रास, 1924

में है। अवन्तिसुन्दरीकथा की दण्डी की तीसरी कृति के रूप में प्रमाणिकता में सन्देह बहुत ही कम है, काव्यादर्श की जंलाघंकृति टीका में भी अवन्तिसुन्दरी नामक आख्यायिका का उल्लेख मिलता है। अतः अवन्तिसुन्दरीकथा को ही विद्वानों के एक बड़े समूह द्वारा दण्डी की तीसरी रचना के रूप में मान्यता दी जाती है। उपलब्ध पाण्डुलिपि के अन्त में "इत्याचार्य दण्डिना कृता अवन्तिसुन्दरी समाप्ता" पाया जाना यह स्पष्ट करता है कि रचना का नाम अवन्तिसुन्दरी है तथा उसके लेखक दण्डी है। "नामसंग्रहमाला" में अप्पय दीक्षित के "इत्यवन्तिसुन्दरीये दण्डिप्रयोगात् " इस कथन से अवन्तिसुन्दरी को दण्डी की स्वतन्त्र कृति होने की पुष्टि होती है।

पृथक्-पृथक् विवेचना से काव्यादर्श, दशकुमारचरितम्, अवन्तिसुन्दरी कथा के साथ-साथ अनुपलब्ध द्विसन्धानकाव्य को दण्डी प्रणीत माना जा सकता है। इस प्रकार दण्डी कृत चार रचनाएं परम्परा से उनके नाम से प्रसिद्ध हैं।[1] लेकिन चार कृतियों की यह परम्परा राजशेखर की दण्डी प्रणीत लोकप्रसिद्ध तीन कृतियों के उल्लेख से मेल नहीं खाती। संभवतः राजशेखर के मन में दण्डिप्रबन्धों के रूप में तीन काव्य प्रबन्ध ही विवक्षित रहे होंगे क्योंकि संस्कृत साहित्य में शास्त्रीय ग्रन्थ अथवा लक्षण ग्रन्थ को प्रबन्ध कहने की परम्परा नहीं है। इसका एक सम्भव समाधान यह भी है कि राजशेखर के समय में दण्डी कृत तीन रचनाएं ही लोकप्रसिद्ध रही हों।

कुछ विद्वान् काव्यादर्श तथा दशकुमारचरितम् को एक साथ दण्डी की कृति मानने में सन्देह प्रकट करते हैं। कुछ लोगों का कथन है कि दशकुमारचरितम् को दण्डी प्रणीत नहीं माना जा सकता। काव्यादर्श का कर्त्ता दण्डी एक महान आलंकारिक है जो कवियों के लिए मार्ग दर्शन देता है तथा काव्य के नियमों का आलेखन करता है। जब कि दशकुमारचरितम् का कर्त्ता

---

[1] गुप्ता, डी.के., काव्यादर्श, भूमिका, पृ. 12

दण्डी काव्यादर्श में दर्शाये गये नियमों का पालन नहीं करता। इस मत के समर्थकों में अगाशे महोदय प्रमुख हैं, जो दोनों ग्रन्थकर्त्ताओं को दो अलग व्यक्ति मानते हैं। ऐसी भी सम्भावना बलवती होती जा रही है कि दशकुमारचरितम् दण्डी की युवावस्था की रचना हो और काव्यादर्श प्रौढ़ एवं अनुभवी मस्तिष्क की। यही कारण है कि दशकुमारचरितम् की प्रेम कथा काव्य प्रतिभा वाला रूप और काव्यादर्श की आलंकारिक मेधा वाला रूप मेल नहीं खाता तथा आलंकारिक दण्डी के ही सिद्धान्तों की अवहेनला कथाकार दण्डी में पायी जाती हैं। कवि प्रौढ़ावस्था में आते-आते अनुभवों के आधार पर कई सिद्धान्तों का हिमायती हो गया हो, प्रौढ़ मस्तिष्क की स्थिति में यह सम्भव भी है।

दण्डी के नाम से प्रसिद्ध, तीन कृतियाँ - दशकुमारचरितम्, अवन्ति-सुन्दरीकथा तथा काव्यादर्श में विषय वस्तु एवं भाषा-शैली की दृष्टि से अन्तर को आधार मानकर कुछ विद्वान् उपलब्ध तीनों कृतियों को एक ही दण्डी की रचनाएँ नहीं मानते हैं। लेकिन अभी तक ऐतिहासिक तथा साहित्यिक विवेचनाओं से एक से अधिक दण्डी का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि दण्डीकृत रचनाओं में विषय तथा भाषा-शैली सम्बन्धी अन्तर भी ज्यादा नहीं है। सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर जगत् प्रसिद्ध है। उक्त तीनों कृतियों को पुष्ट प्रमाणों के अभाव में एक ही दण्डी की कृति माना जाना चाहिए।

निःसन्देह काव्यादर्श और दशकुमारचरितम् दण्डी की रचना माने जायेंगे। लेकिन यह बात ध्यान देने योग्य है कि जितनी भी प्राचीन टीकाएं उपलब्ध हैं वे सभी सिर्फ उत्तर भाग की हैं, पूर्वभाग की टीकाएं उपलब्ध नहीं हो पाती हैं। पूर्वभाग एवं उत्तरभाग की कहानियों में सामञ्जस्य का भी अभाव है। इस तरह अकेले उत्तर भाग ही दण्डी कवि की असली रचना सिद्ध होता

है। किन्तु व्यवहार में यहाँ दशकुमारचरितम् नाम से अभिसम्बन्धित एवं ग्रन्थ रूप में उपलब्ध सम्पूर्ण खण्ड ही दशकुमारचरितम् नाम से विवक्षित है। उपलब्ध दशकुमारचरितम् के भाग एवं अवन्तिसुन्दरीकथा का विश्लेषण करने पर यह माना जा सकता है कि दण्डी की तीसरी रचना के रूप में अवन्तिसुन्दरी को मान्यता देना ज्यादा समीचीन है। डॉ. डी. के. गुप्ता ने अवन्तिसुन्दरीकथा को ही थर्किक एवं सम्यक् विवेचना के बाद दण्डी की तृतीय रचना स्वीकार किया है।[1] दशकुमारचरितम् तथा अवन्तिसुन्दरीकथा दोनों में कथावस्तु को प्रस्तुत करने की शैली तथा वर्णनात्मक प्रसङ्गों में काफी अन्तर परिलक्षित होता है। इस तरह काव्यादर्श, दशकुमारचरितम् एवं अवन्तिसुन्दरीकथा को दण्डी प्रणीत ग्रन्थ माना जाता चाहिए।

[1] गुप्ता, डी.के., ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ दण्डिन् एण्ड हिज वर्क्स, पृ.37-60

द्वितीय अध्याय

अध्याय-2

(क) मृच्छकटिकम् के रचना-काल में भारतीय समाज

मृच्छकटिकम् शूद्रक की रचना है। शूद्रक का काल पाँचवीं सदी का उत्तरार्द्ध एवं छठवीं सदी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। यह काल गुप्त वंशीय शासकों का काल माना जाता है। उस काल का समाज निम्न प्रकार का था -

1. वर्ण-व्यवस्था एवं जाति-प्रथा –

तत्कालीन समाज में वर्ण-व्यवस्था पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित थी। भारतीय समाज के परंम्परागत चार वर्णों- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के अतिरिक्त कुछ अन्य जातियाँ भी अस्तित्व में आ चुकी थी। चारों वर्णों की सामाजिक स्थिति में विभेद किया जाता था। वराहमिहिर ने 'वृहत्संहिता' में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों के लिए क्रमशः पाँच, चार, तीन एवं दो कमरों वाले मकान की व्यवस्था दी है।[1] न्याय-व्यवस्था में भी विभिन्न वर्णों की स्थिति के अनुसार भेद-भाव बरते जाने का विधान मिलता है। परन्तु इस समय जाति-व्यवस्था उतनी अधिक जटिल नहीं पाई जाती थी जितनी कि परवर्ती कालों में देखने को मिलती है।

इस काल में साधारणतया व्यक्ति अपनी ही जाति में विवाह करते थे, किन्तु कई ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं जिनसे यह स्पष्ट है कि कुछ व्यक्तियों ने अभिरुचि और गुणों को प्रमुख मानकर अपनी जाति के लिए निर्धारित कार्य नहीं किया। मयूर शर्मा ब्राह्मण था किन्तु उसने क्षत्रिय योद्धा के रूप में शासन किया। चन्द्रगुप्त द्वितीय संभवतः वैश्य था। उसकी पुत्री प्रभावती गुप्ता

---

1 वराहमिहिर, वृहत्संहिता पृ.- 94

का विवाह वाकाटक वंश के ब्राह्मण राजकुमार रुद्रसेन के साथ हुआ। कर्म के अनुसार दोनों क्षत्रिय थे। इन उदाहरणों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कुछ अंशों में वर्ण-व्यवस्था का सिद्धान्त अब भी मान्य था।[1]

इस काल में भी गुण और कर्म के आधार पर वर्ण निर्धारण की परम्परा कुछ अंश में विद्यमान रही। इक्ष्वाकु राजा ब्राह्मण थे। उन्होंने शकों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध किए क्योंकि वे भी शासक थे।[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ब्राह्मणों के प्रभाव के कारण साधारण जनता वर्ण सिद्धान्त की अपेक्षा जाति सिद्धान्त को अधिक मानने लगी थी। किन्तु इसके कारण वैवाहिक सम्बन्धों और खान-पान के नियमों में अभी इतनी संकीर्णता नहीं आई जितनी कि परवर्ती काल में आई।

जाति प्रथा का प्रभाव व्यवसाय के चुनाव में इतना बाधाक सिद्ध न हुआ। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि अनेक ब्राह्मण व्यापारी, वास्तुकार और राजकीय कर्मचारी थे। मध्य प्रदेश में इन्दौर के तेलियों की श्रेणी के मुख्य अधिकारी क्षत्रिय थे। सम्भव है कि कुछ अन्य क्षत्रिय भी व्यापार करते हों। वैश्यों में तो वर्ण का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उन्हें इस बात की इतनी अनुभूति न थी के वे वैश्य कुल में उत्पन्न हुए हैं। अपने व्यावसायिक वर्ग से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। किसान, व्यापारी, पशुपालक, लुहार, बढ़ई, तेली और जुलाहे सबकी अलग जातियाँ बन गई थीं। उनका पैतृक व्यवसाय भी वही था। इससे जाति के सिद्धान्त को बल मिला, परन्तु उनके घनिष्ठ सम्बन्धों का मुख्य कारण उनका व्यवसाय था। शूद्रों में भी अनेक व्यापारी, किसान और शिल्पी थे। उनमें से अनेक सेना में योद्धा भी थे। उपर्युक्त

---

1 चोपड़ा, पुरी, दास; भारत का सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास

2 ओम प्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास

विवेचन से स्पष्ट है कि जाति सिद्धान्त इस काल में व्यवसाय के चुनाव में बाधक सिद्ध नहीं हुआ।

ब्राह्मणों में भी उपजातियाँ उन वेदों के आधार पर बनीं जिनका वे अध्ययन करते थे।

क्षत्रियों और अधिकतर वैश्यों का भी इस काल में यज्ञोपवीत संस्कार होता और वे द्विज कहलाते थे। इस काल के अनेक वैश्यों ने पुस्कल धनराशि दान में देकर पाटलिपुत्र के प्रसिद्ध चिकित्सालय की स्थापना की। वैश्यों की अपनी श्रेणियाँ थीं। उनका देश के उद्योगों पर पर्याप्त प्रभाव था। इसीलिए उनके प्रतिनिधि नगर निगम की कार्यकारिणी के सदस्य होते थे। सम्भव है कि कुछ वैश्यों की स्थिति, जो निर्धन थे शूद्रों जैसी हो गई हो।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस काल में गुण और कर्म पर आधारित वर्ण सिद्धान्त और जन्म पर आधारित जाति सिद्धान्त दोनों का ही प्रभाव समाज पर पड़ा, किन्तु जनसाधारण में ब्राह्मणों का आदर होने के कारण जाति का सिद्धान्त अधिक मान्य हो गया।

स्मृति ग्रंथों एवं फाहियान के विवरण से पता चलता है कि समाज में अस्पृश्यता प्रचलित थी। फाहियान अछूतों को 'चाण्डाल' कहता है, जो गाँवों एवं नगरों के बाहर निवास करते थे। वे ही आखेट करते एवं मांस बेचते थे। गाँवों तथा नगरों में प्रवेश करते समय वे लकड़ी पीटते हुए चलते थे, थकि लोग मार्ग से हट जायें और उनके स्पर्श से बच जाएँ। ऐसा सम्भवतः उनके अपवित्र कार्यों जैसे मांस काटना व बेचना, मैला ढोना आदि के कारण किया जाता था।

2. आश्रम-व्यवस्था –

जीवन के क्रम या अवस्थाएं, जिन्हें आश्रम[1] कहा जाता था, समाज में परिवार और व्यक्ति से सम्बन्धित थे। इनमें से पहली अवस्था में, जो ब्रह्मचर्य की होती थी, ब्रह्मचारी विद्यार्थी अपने गुरु के पास रहता था और उसके परिवार की सेवा करता था। यह काल उसके ज्ञान के उपार्जन का काल था, जो जीवन में आगे चलकर उसके लिए उपयोगी सिद्धा होगा। समावर्तन (पवित्र स्नान) संस्कार के पश्चात्, विद्यार्थी को, जो अब बढ़कर तरुण पुरुष बन चुका था, विवाह करने और गृहस्थ जीवन बिताने का आदेश दिया जाता था। अध्ययन काल की समाप्ति से पहले ही विवाह कर लेने पर उसे 'खट्वारूढ़' अर्थात् 'उस बिस्तर पर चढ़ने वाला, जिसका वह अधिकारी नहीं है,' कहा जाता था। इस दूसरी अवस्था में, एक गृहस्थ के रूप में, वह घर बसाता था; अपने परिवार और बच्चों का भरण-पोषण करता था, और इस प्रकार अपने सांसारिक ऋणों को उतार देता था। वह देवताओं के लिए और अपने पूर्वजों के लिए यज्ञ करता था। अन्तिम ऋण, ऋषियों या गुरुओं के प्रति ऋण, शिक्षा सम्बन्धी और धार्मिक संस्थाओं तथा व्यक्तियों को उदारतापूर्वक दान देकर चुकाया जाता था। इस सक्रिय जीवन के बाद भिक्षु के रूप में त्याग, तप तथा संयम का जीवन शुरू होता था। अन्तिम अवस्था में, अर्थात् सन्यासी या परिव्राजक की अवस्था में, सत्य और असत्य का, सुख और दुःख का और यहाँ तक कि वेदों का भी, और ऐहिक जीवन से सम्बन्धित सब वस्तुओं का त्याग करके कठोर तप और संयम का जीवन व्यतीत करना होता था। इस अवस्था वाले व्यक्ति पारिवारिक बंधनों तथा

---

1 मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास

अन्य दायित्वों से मुक्त होते थे और घर तथा परिवार का कार्यभार उनके पुत्र सम्भाल लेते थे।[1]

जीवन की इन चार अवस्थाओं द्वारा व्यक्तियों को आवागमन की शाश्वत प्रक्रिया से मुक्ति के लिए आत्मज्ञान पाने का यथेष्ट अवसर मिलता था। यद्यपि लोग सामान्य' तथा एक के बाद एक, इन सभी अवस्थाओं में से गुजरते थे, किन्तु किसी भी व्यक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वह इन सब अवस्थाओं से, विशेष रूप से, पहली और तीसरी अवस्था के बीच वाली अवस्था में से गुजरे ही। जिस किसी व्यक्ति को विद्याध्ययन से अत्यधिक अनुराग हो, वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश न करके सारा जीवन ब्रह्मचारी रहकर विद्याभ्यास करता रह सकता था। अन्त में वह तीसरी और चौथी अवस्थाओं में प्रवेश कर जाता था। इसी प्रकार किसी गृहस्थ के लिए भी सन्यासी का जीवन बिताने के लिए, जिसमें सर्वस्व त्याग अन्तर्निहित था, अपना घर त्याग देना आवश्यक नहीं होता था।

3. दास-प्रथा -

दासों के कार्य – अधिकतर दासों को घर के कामों में ही लगाया जाता था। वे गंदे काम जैसे कि झाड़ू लगाना, मलमूत्र साफ करना आदि भी करते थे। वे कूटना, पीसना आदि घर के अन्य काम तो करते ही थे।[2] नारद (100 ई. से 500 ई.) ने घर के कार्यों का वर्गीकरण दो भागों में किया है। उसके अनुसार स्वामी को पवित्र कार्य नौकरों से कराने चाहिए और अपवित्र काम जैसे कि द्वार पर झाड़ू लगाना, शौचालय व सड़क साफ करना, कूड़ा

---

1 ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, पृ. 37-48

2 महाजन, वी.डी., प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 556-559

उठाना, मलमूत्र साफ करना, जूठन उठाना आदि केवल दासों से ही कराने चाहिए।

यहां की कृषि-व्यवस्था दासों पर आधारित नहीं थी। किन्तु सम्भवतः कुछ किसान भी खेती में दासों का उपयोग करते थे।

दासों के प्रकार – नारद ने (100 ई. से 500 ई.) 15 प्रकार के दासों[1] का विवरण दिया है, जो निम्नलिखित हैं-

1. हवजाहृत, 2. भक्तदास, 3. गृहज, 4. क्रीत, 5. दत्रिम, 6. दान में मिला दास, 7. दंड-दास, 8. आहितक, 9. ऋणदास, 10. जुए में जीता हुआ व्यक्ति, 11. दासी से सम्भोग करने के कारण बना दास, 12. निर्धारित समय के लिए बना दास, 13. चोरों या डाकुओं द्वारा बेचा हुआ व्यक्ति, 14. सन्यास छोड़कर गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होने वाला व्यक्ति, 15. स्वयं अपने को बेचने वाला व्यक्ति।

याज्ञवल्क्य[2] और नारद के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ब्राह्मण के, वैश्य और शूद्र, क्षत्रिय के, और शूद्र, वैश्य का दास हो सकता था। कात्यायन ने लिखा है कि ब्राह्मण किसी का दास नहीं हो सकता। (400-600ई.) उसके अनुसार यदि कोई ब्राह्मण सन्यास छोड़कर गृहस्थी बन जाए तो राजा उसको देश निर्वासन का दण्ड दे। किन्तु यदि क्षत्रिय और वैश्य ऐसा करे तो उन्हें दास बनाया जाए।

याज्ञवल्क्य एवं नारद ने दासों का उल्लेख करते हुए उनके स्वतंत्र होने की शर्तों का भी विवेचन किया है।

---

1 नारद स्मृति

2 याज्ञवल्क्य स्मृति

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि इस काल में स्वामी अपने दास को बेच सकता, किराए पर दे सकता, भेंट में दे सकता, बन्धक बना सकता और दान में दे सकता था। इस काल में जीवन निर्वाह के लिए पिता पुत्रों को भी दासों के रूप में बेच और बन्धक बना सकते थे। कुछ व्यक्ति पेट भरने के लिए और कुछ मृत्यु से बचने के लिए स्वयं दास बनने के लिए उद्यत हो जाते।

दासों के साथ व्यवहार – स्वामी दास को रस्सी या डंडे से पीठ पर मार सकता था, यदि वह भाग जाए तो स्वामी उसे पकड़ कर ला सकता था। उसकी गवाही स्वीकार नहीं की जाती थी। उसके कोई कानूनी अधिकार नहीं थे। मनु के अनुसार वह सम्पत्ति का भी स्वामी नहीं हो सकता था। स्वामी को दास पर अपने परिवार के सदस्यों की भांति ही क्रोध नहीं करना चाहिए। यदि दास से कोई अपराध हो जाए तो उसका स्वामी उसके अपराध के दण्ड का भागी होता था।

स्वामियों को दास को जान से मारने का अधिकार न था। दास के बूढ़ा होने पर स्वामी उसे निकाल नहीं सकता था। कुछ धनी स्वामी दासियों की इच्छा के विरुद्ध भी उनके साथ गमन करते थे। उन्हें केवल 10 पण दण्ड देना होता था। कुछ धनी व्यक्ति दासियों के साथ सम्भोग भी करते थे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस काल में दास प्रथा का बहुत विस्तार हो गया था।

4. स्त्रियों की दशा –

इस समय स्त्रियों का प्रतिष्ठित स्थान था। प्रायः सजातीय विवाह ही होते थे। यदा-कदा निम्नवर्ण की कन्या का विवाह उच्च वर्ण में हो जाता

था।[1] ऐसे विवाह को 'अनुलोम' विवाह कहा जाता था। स्मृति ग्रंथ इसकी मान्यता देते हैं। नारद एवं पाराशर की स्मृतियों से विधवा-विवाह का समर्थन मिलता है। किन्तु बृहस्पति इसे मान्यता नहीं देते। उन्होंने विधवा के लिए आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करने तथा व्रत, उपवास, तप, दान आदि में लगे रहने का विधान प्रस्तुत किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में विधवाओं की दशा अच्छी नहीं थी तथा उन्हें कठोर साधना का जीवन बिताना पड़ता था। इस युग में कन्याओं का विवाह सामान्यतः 12-13 वर्ष की अवस्था में होता था, अतः उनका उपनयन संस्कार बन्द हो गया। याज्ञवल्क्य-स्मृति कन्या के लिए उपनयन एवं वेदाध्ययन का निषेध करती है। सती-प्रथा का उल्लेख केवल 510 ई. के भानुगुप्त के एरण अभिलेख में मिलता है जिसके अनुसार उसके मित्र गोपराज की मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी सती हो गयी थी।[2] परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रथा न तो समाज में लोकप्रिय हो पाई थी और न ही इसे कोई शास्त्रीय मान्यता ही मिल सकी थी।

समाज में वेश्याओं के अस्तित्व का भी प्रमाण मिलता है। कामसूत्र में गणिकाओं को दिए जाने वाले प्रशिक्षण का विवरण दिया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह व्यवसाय काफी प्रचलित था। मुद्राराक्षस से पता चलता है कि उत्सवों के समय बड़ी संख्या में वेश्याएं सड़कों पर निकलती थीं। मन्दिरों में कन्याएं देवदासी के रूप में नृत्यगान करती थीं। कालिदास ने उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर में नृत्यगान करने वाली देवदासियों का विवरण दिया है।

---

1 बाशम, ए.एल., अद्भुत भारत, पृ. 126-130

2 ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास पृ. 143

पर्दा-प्रथा का प्रचलन नहीं था तथा स्त्रियाँ स्वतंत्रतापूर्वक विचरण कर सकती थीं। किन्तु कुलीनवर्ग की महिलाएं बाहर निकलते समय अपने मुँह पर घुँघट डालती थीं। गुप्तकालीन स्मृतियों में स्त्री के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार को मान्यता प्रदान की गयी तथा स्त्री-धन का दायरा अत्यन्त विस्तृत कर दिया गया। पुत्र के अभाव में पति की सम्पत्ति पर पत्नी का अधिकार होता था। नारद तथा कात्यायन आदि स्मृतिकार कन्या को भी पिता की सम्पत्ति का अधिकारिणी मानते थे। कात्यायन ने तो यह व्यवस्था दी है कि अचल सम्पत्ति में भी स्त्री का अधिकार होता है और वह स्त्रीधन के साथ इसे भी बेच सकती अथवा बन्धक रख सकती है।

5. शिक्षा –

प्राचीन भारतीयों ने शिक्षा को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया। भौतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान तथा विभिन्न उत्तरदायित्वों के विधिवत् निर्वाह के लिए शिक्षा की महती आवश्यकता को सदा स्वीकार किया गया। वैदिक युग से ही इसे प्रकाश का स्त्रोत माना गया जो मानव-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को आलोकित करते हुए उसे सही दिशा-निर्देश देता है। सुभाषित रत्नसंदोह में कहा गया है कि 'ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है जो उसे समस्त तत्वों के मूल को जानने में सहायता करता है तथा सही कार्यों को करने की विधि बताता है।[1] महाभारत में वर्णित है कि विद्या के समान नेत्र तथा सत्य के समान तप कोई दूसरा नहीं है।[2] इसे मोक्ष का साधन माना गया है।[3]

---

1 ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रं समस्ततत्वार्थविलोकदक्षम्।
तेजोऽनपेक्षं विगतान्तरायं प्रवृत्तिमत्सर्वजगत्त्रयेऽपि।।

2 नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।

3 सा विद्या या विमुक्तये।

प्राचीन भारतीयों की दृष्टि में शिक्षा मनुष्य के सर्वाङ्गीण विकास का साधन थी। इसका उद्देश्य मात्र पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करना नहीं था, अपितु मनुष्य के स्वास्थ्य का भी विकास करना था। शिक्षा के द्वारा मनुष्य आजीवका का उत्तम साधन प्राप्त करता है। किन्तु उसे मात्र आजीविका का साधन मानना भारतीयों की दृष्टि में अभीष्ट नहीं था। ऐसी मान्यता वालों की निन्दा की गई है। इस प्रकार प्राचीन भारतीयों की दृष्टि में शिक्षा व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उत्थान का सर्वप्रमुख माध्यम है।

प्राचीन शिक्षा के उद्देश्यों तथा आदर्शों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है-

(1) चरित्र का निर्माण – शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति के चरित्र का निर्माण करना है। यह व्यक्ति का सबसे बड़ा आभूषण है। चरित्र एवं आचरण से हीन व्यक्ति की सर्वत्र निन्दा की गयी है। मनुस्मृति में वर्णित है कि 'सभी वेदों का ज्ञाता विद्वान् भी सच्चरित्रता के अभाव में श्रेष्ठ नहीं है, किन्तु केवल गायत्री मन्त्र का ज्ञाता पण्डित भी यदि वह चरित्रवान् है तो श्रेष्ठ कहलाने योग्य है।[1]

(2) व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास – प्राचीन शिक्षा का एक उद्देश्य विद्यार्थी को व्यक्तित्व के विकास का पूरा अवसर प्रदान करना था। विद्यार्थी के बौद्धिक विकास के साथ-साथ शारीरिक विकास का भी पूरा ध्यान रखा गया था। शिक्षा के द्वारा विद्यार्थी में आत्म-सम्मान, आत्म-विश्वास,

---

[1] सावित्रीमात्र सारोपि वरं विप्रः सुयंत्रितः।
नायंत्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी।। मनु. 2.118

आत्म-संयम, विवेक-शक्ति, न्याय-शक्ति आदि गुणों का उदय होता था जो उसके व्यक्तित्व को विकसित करने में सहायक थे।

(3) नागरिक तथा सामाजिक कर्त्तव्यों का ज्ञान – अध्ययन की समाप्ति पर समावर्तन संस्कार का आयोजन किया जाता था जिसमें आचार्य विद्यार्थी के समक्ष उसके भावी कर्त्तृव्यों को अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करता था।

(4) निष्ठा तथा धार्मिकता का संचार करना – प्राचीन शिक्षा पद्धति धर्म से प्रभावित थी तथा उसका एक प्रमुख उद्देश्य विद्यार्थियों में निष्ठा एवं धार्मिकता की भावना जागृत करना था। विद्यारम्भ में जो संस्कार होते थे, गुरुकुल में विद्यार्थी के लिए जो अनुष्ठान एवं व्रत निर्धारित थे तथा उसकी जो प्रतिदिन की प्रार्थना होती थी, इन सबके द्वारा उसके मस्तिष्क में पवित्रता एवं धार्मिकता का उदय होता था।

शिक्षा सम्बन्धी प्राचीन भारतीयों का दृष्टिकोण मात्र आदर्शवादी ही नहीं, अपितु अधिकांश अंशों में व्यावहारिक भी था। यह व्यक्ति को सांसारिक जीवन की कठिनाइयों एवं समस्याओं के समाधान के लिए सर्वथा उपयुक्त बनाती थी।

पाठ्यक्रम – इस समय तक शिक्षा के मुख्य पाठ्यक्रम में वैदिक ऋचाओं, इतिहास, पुराण, खगोल-विद्या, ज्यामिति, छन्दशास्त्र के अतिरिक्त दर्शन, धर्मशास्त्र, महाकाव्य (रामायण और महाभारत), व्याकरण, मूर्तिकला, वैद्यक, पोतनिर्माणकला आदि शामिल हो गया था। विभिन्न व्यवसायों तथा शिल्पों की भी शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। धार्मिक तथा लौकिक विषयों की शिक्षा में समन्वय स्थपित किया गया। इस युग के स्नातक वेदों तथा 18

शिल्पों में निपुण होते थे। अट्ठारह शिल्प[1] निम्नलिखित थे- (1) गायन, (2) वादन, (3) चित्रकला, (4) गणित, (5) नृत्य, (6) गणना, (7) यन्त्र, (8) मूर्तिकला, (9) कृषि, (10) पशुपालन, (11) वाणिज्य, (12) चिकित्सा, (13) विधि, (14) प्रशासनिक प्रशिक्षण, (15) धनुर्विद्या तथा सैनिक शिक्षा, (16) जादूगरी, (17) सर्पविद्या तथा विष दूर करने की विधि (18) छिपे हुए धन के पता लगाने की विधि।

वात्स्यायन के कामसूत्र से 64 कलाओं का उल्लेख मिलता है जिसका अध्ययन सुसंस्कृत महिला के लिए अनिवार्य बताया गया है।[2] ये पाकविद्या, शारीरिक प्रसाधन, संगीत, नृत्य, चित्रकला, सफाई, सिलाई-कढ़ाई, व्यायाम, मनोरंजन आदि से सम्बन्धित हैं।

तत्कालीन साहित्य तथा विदेशी यात्रियों के विवरण से पता चलता है कि यहाँ शिक्षा के पाठ्यक्रम में चार वेद, छः वेदांग, 14 विधायें, 18 शिल्प, 64 कलाएं आदि सम्मिलित थे। 14 विधाओं से तात्पर्य चार वेद, 6 वेदांग, धर्मशास्त्र, पुराण, मीमांसा तथा तर्क से है।[3]

गुरुकुल पद्धति – प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का एक प्रमुख तत्त्व गुरुकुल व्यवस्था है। इसमें विद्यार्थी अपने घर से दूर गुरु के घर पर निवास कर शिक्षा प्राप्त करता था। कभी-कभी वह शिक्षा केन्द्रों से सम्बद्ध छात्रावासों में निवास करता था। इस प्रकार के विद्यार्थी को 'अन्तेवासी' अथवा 'आचार्य-कुलवासी' कहा गया है।[4] धर्मग्रन्थों में विहित है कि विद्यार्थी उपनयन संस्कार के साथ ही गुरुकुल में निवास करे तथा विविध विषयों की शिक्षा प्राप्त करे।

---

1 श्रीवास्तव, के.सी., प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृ. 753

2 वही

3 वही, पृ. 754

4 वही

गुरु के समीप रहते हुए विद्यार्थी उसके परिवार का एक सदस्य हो जाता था तथा गुरु उसके साथ पुत्रवत् व्यवहार करता था। गुरुकुल में ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते हुए विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करता था। अधिकांशतः गुरुकुल ग्रामों तथा नगरों में अवस्थित थे। शिक्षक गृहस्थ थे और स्वाभाविक रूप से वे उन्हें अपने निवास-स्थान के समीप ही रखते थे। यह आवश्यक था कि गुरुकुल ग्राम या नगर में किसी उपवन या एकान्त स्थान पर स्थित हों। वस्तुतः गुरुकुल उच्च अध्ययन के निमित्त होते थे।

गुरु को देवता माना जाता था। गुरु-शिष्य सम्बन्ध अत्यन्त मधुर एवं सौहार्दपूर्ण थे। अधिकतर ख्याति प्राप्त आचार्य अपने निजी शिक्षण-केंद्र स्थपित करके विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करते थे। शिक्षा प्रायः निःशुल्क होती थी। शिक्षा प्रदान करना विद्वानों एवं आचार्यों का पुनीत कर्त्तव्य माना जाता था। जो लोग शुल्क की लालसा से शिक्षा प्रदान करते थे, समाज उन्हें निन्दा की दृष्टि से देखता था। तथपि शिष्य का यह कर्त्तव्य था कि ज्ञानदाता आचार्य को कुछ न कुछ धन दक्षिणा के रूप में अवश्य प्रदान करे। धनी व्यक्ति अपने बालकों के प्रवेश के समय ही गुरु को सम्पूर्ण धनराशि प्रदान कर देते थे। जिन छात्रों के अभिभावक निर्धन होते थे, वे स्वयं गुरु की सेवा द्वारा शुल्क की क्षतिपूर्ति करते थे। अध्ययन समाप्ति के पश्चात् ऐसे विद्यार्थी भिक्षा मांग कर गुरु-दक्षिणा चुकाते थे। आधुनिक काल की तरह शिक्षा समाप्ति के बाद वार्षिक परीक्षा का कोई उल्लेख तत्कालीन साहित्य में नहीं मिलता है और न ही शिक्षा समाप्ति के बाद कोई उपाधि दी जाती थी।

उस समय के प्रमुख विश्वविद्यालयों का विवरण इस प्रकार है-

(1) नालन्दा विश्वविद्यालय – राजगृह से नालन्दा की दूरी लगभग आठ मील है। सर्वप्रथम यहाँ एक बौद्ध-विहार की स्थापना कुमार गुप्त प्रथम ने (415-455ई.) में करवायी। हर्ष ने वहाँ एक ताम्रविहार

बनवाया था। हर्ष काल तक आते-आते नालन्दा महाविहार[1] एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हो गया। इस विश्वविद्यालय में आठ बड़े कमरे तथा व्याख्यान के लिए तीन सौ छोटे कमरे बने हुए थे। चीनी यात्री फाहियान जो चौथी शताब्दी में भारत की यात्रा पर आया, नालन्दा का कोई उल्लेख नहीं करता जब कि उसके दो शथब्दियों बाद आने वाले चीनी यात्री ह्वेनसांग तथा इत्सिंग इसकी उच्च शब्दों में प्रशंसा करते है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि शिक्षा केन्द्र के रूप में नालन्दा की ख्याति पांचवी शताब्दी से बढ़ी तथा छठी शताब्दी तक आते-आते यह न केवल भारत अपितु अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भी प्रतिष्ठित हो गया। ह्वेनसांग यहाँ के विद्यार्थियों की संख्या दस हजार बताता है।

(2) वलभी विश्वविद्यालय – गुजरात-काठियावाड़ के समुद्र के निकट स्थित वलभी[2] नालन्दा विश्वविद्यालय के साथ-साथ विकसित हुआ था। सातवीं सदी तक इसकी ख्याति देश के विभिन्न भागों में हो गई थी। यहाँ अनेक विशाल बौद्ध विहार मठ थे। 100 विहारों तथा 6000 भिक्षुओं का विवरण ह्वेनसांग ने भी दिया है। बौद्ध शिक्षा का प्रधान केन्द्र होने के कारण दूर-दूर के स्थानों से विद्यार्थी यहाँ शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते थे।

(3) श्रावस्ती नगर का शिक्षा केन्द्र – सम्राट हर्ष के समय में श्रावस्ती विहार[3] बौद्ध ज्ञान और दर्शन का प्रमुख केन्द्र था। जहाँ दूर-दूर से भिक्षु आकर ज्ञान प्राप्त करते थे।

अन्य शिक्षा केन्द्र – काशी, धारा, कन्नौज, कांची आदि थे।

---

[1] डा. मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ. 540

[2] वही, पृ. 543, 44

[3] वही, पृ. 544

कांची – विश्वविद्यालय में वैदिक साहित्य का अध्ययन-कार्य किया जाता था। महाकवि दण्डी, शूद्रक, भारवि आदि ने सम्भवतः यहीं पर रहकर अपनी कृतियों को पूर्ण किया। वात्स्यायन और दिङ्नाथ जैसे महान ज्ञाता कांची विश्वविद्यालय[1] में ही रहकर पढ़े हुए थे।

6. खान-पान-

फाह्यान के अनुसार "लोग सुअर तथा मुर्गियाँ नहीं पालते, प्याज तथा लहसुन भी नहीं खाते, शराब नहीं पीते। केवल चाण्डाल ही जो समाज से बहिष्कृत हैं, शिकार करते हैं तथा मांस का क्रय करते हैं।" परन्तु इस विवरण से सहमत नहीं हुआ जा सकता है। तत्कालीन साहित्य से विदित होता है कि भोजन में मांस-मदिरा आदि का प्रयोग किया जाता था। कालिदास के नाटकों में तो स्त्री पुरुषों द्वारा सामूहिक रूप से मदिरापान का उल्लेख है। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में माढव्य नामक ब्राह्मण द्वारा सुअर का भुना हुआ मांस खाने का उल्लेख है। 'मालविकाग्निमित्रम्' की इरावती ने तो इतनी अधिक मदिरा पी ली थी कि उसके पैर लड़खड़ाने लगे। सुख-समृद्धि के इस युग में खान-पान पर कोई रोकटोक नहीं थी। खान-पान व्यक्तिगत रुचि के अनुरूप किया जाता था। चावल, गुड़, घृत, दही, मोदक और सूप आदि खाद्य पदार्थों का उल्लेख मिलता है। दाल, चावल, रोटी, बाजरा, दूध, घी, मिठाई और शक्कर सामान्य भोजन के अंग थे। सामान्य रूप में स्त्रियाँ तथा ब्राह्मण शाकाहारी थे। भोजन तथा खान-पान में शुद्धता तथा शुचिता का ध्यान रखा जाता था। भोजन दिन में दो बार किया जाता था।[2] खाद्य सामग्री सस्ती थी। विभिन्न आंकड़ों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति के भोजन के लिए ढाई रुपये

1 डा. मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ. 550

2 वात्स्यायन, कामसूत्र
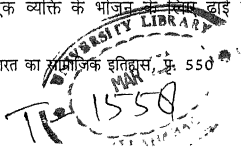
प्रतिमाह पर्याप्त थे। फलों में आम, तरबूज, इमली, रम्भा, नारियल, नाशपाती, आड़ू, खूबानी, अंगूर, संतरा आदि थे। गेहूँ, तिलहन, ज्वार, बाजरा, मसाले आदि का भी प्रचलन था।

7. वस्त्र एवं आभूषण-

साधारण लोग प्रायः सूती वस्त्र तथा धनी एवं सम्पन्न वर्ग के लोग रेशमी, ऊनी तथा बहुमूल्य वस्त्र धारण करते थे। अधोवस्त्र (धोती) तथा उत्तरीय (शाल) का प्रयोग पुरुषों द्वारा तथा साड़ी और पेटीकोट का प्रयोग स्त्रियों द्वारा किया जाता था। पायजामे तथा कोट का प्रयोग सीमित था। पुरुष पगड़ी भी बाँधते थे। अजन्ता के चित्रों से पता चलता है कि स्त्रियाँ अनेक प्रकार की चोलियाँ धारण करती थीं। एक चित्र में स्त्री को अंगिया पहने हुए भी दिखाया गया है। सीथियन नारियाँ फ्राक, जैकेट, पायजामे तथा ब्लाउज पहनती थीं।

शारीरिक सौंदर्य की वृद्धि तथा आकर्षण उत्पन्न करने के लिए आभूषणों का प्रचुर उपयोग होता था। इस समय स्त्री-पुरुष समान रूप से आभूषण प्रिय थे। अजन्ता के एक चित्र से पता चलता है कि अब स्त्रियाँ माँग के बीचोंबीच टीका पहनती थीं। 'रघुवंश' से पता चलता है कि स्वयंवर में आने वाले राजा केयूर तथा अंगुलीयक पहने हुए थे।[1] धार्मिक अनुष्ठानों में सभी के द्वारा आभूषण धारण किया जाना आवश्यक तथा शुभ समझा जाता था। यज्ञोपवीत के अवसर पर कटि में कटिबंध तथा उदर पर उदरबंद पहनने की प्रथा थी। कर्णफूल, मोती, तथा स्वर्ण की मालाएं, विविध रत्नों से जड़े हुए कंगन, चूड़ियाँ तथा कड़े, करधनी एवं पायजेब आदि प्रमुख आभूषण थे। स्त्रियाँ पैरों में घुँघरूदार आभूषण तथा कलाइयों में बजने वाले

---

[1] कालिदास, रघुवंशम् 6-14

कड़े पहनती थीं। वात्स्यान ने नवयुवकों को विभिन्न आभूषण पहनने का परामर्श दिया है।[1]

कालिदास से अनुसार स्त्रियाँ सुगन्धित सामग्री को जलाकर अपने केशों को सुखाती थीं।[2] अजन्ता के चित्रों से विदित होता है कि तत्कालीन केश-विन्यास की विधि बड़ी विकसित, आकर्षक तथा पेचीदा थी। 'मेघदूत' से पता चलता है कि स्त्रियाँ अपने केशों तथा वेणियों में मन्दार के फूल लगाती थीं। कम बाल वाली स्त्रियाँ कृत्रिम बाल लगाती थीं। इस समय के पुरुष भी बड़े श्रृंगार प्रिय थे। वेश्याएं अपने साज श्रृंगार द्वारा पुरुषों को आकर्षित करती थीं। प्रेमिकाएं प्रेमी से मिलने के लिए सुन्दर, सुरुचिपूर्ण श्रृंगार करती थीं।[3]

8. राजनीतिक दशा-

जिस समय मृच्छकटिकम् की रचना हुई, उस समय उत्तरी भारत में परवर्ती गुप्त शासकों का शासन था। ये परवर्ती गुप्त शासक पूर्व की भाँति शक्तिशाली नहीं रहे तथा साम्राज्य छोटे-छोटे प्रान्तों में विभक्त होने लगा तथा राज्यों की संख्या बढ़ने लगी। इससे छोटे-छोटे राज्यों के मध्य परस्पर द्वेष एवं संघर्ष प्रारम्भ हो गया। कोई भी सार्वभौम सम्राट नहीं था अतः यह स्थिति स्वाभाविक थी। गुप्त वंश के अन्तिम महान् शासक स्कन्दगुप्त की 462 ई0 में मृत्यु के पश्चात् साम्राज्य पतन की दिशा में तेजी से उन्मुख हुआ। यद्यपि स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों ने किसी न किसी रूप में 550 ई. तक मगध पर अधिकार रख सकने में सफलता प्राप्त की।[4]

---

1 वात्स्यायन, कामसूत्र, अ. 3

2 जालोद्गीर्णैः उपचितवपुः केशसंस्काधूपैः। कालिदास, पूर्णमेघदूतम्, 32

3 ईश्वरी प्रसाद, शैलेन्द्र शर्मा, प्राचीन भारतीय संस्कृति, पृ. 156

4 श्रीवास्तव, के. सी., प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृ. 444

स्कन्दगुप्त के बाद शासन करने वाले राजाओं में योग्यता एवं कुशलता का अभाव था। इस समय पुष्यमित्र एवं हूण जैसे भयानक शत्रुओं का आक्रमण हुआ, यद्यपि वे पराजित किए गये। परन्तु उसके बाद के गुप्त राजाओं में वीरता एवं कार्यकुशलता नहीं थी। गुप्त राजकुमारों में आपसी वैमनस्य एवं विद्वेष-भाव था। कुछ राजकुमारों ने विभिन्न भागों में अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी कायम कर ली।

गुप्त प्रशासन का स्वरूप संघात्मक था। साम्राज्य में अनेक सामन्ती इकाइयाँ थीं। गुप्तकाल के सामन्तों में मौखरि, उत्तरगुप्त, परिव्राजक सनकानीक, वर्मन्, मैत्रक आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन वंशों के शासक महाराज की उपाधि ग्रहण करते थे। स्थानीय राजाओं तथा गणराज्यों को स्वतंत्रता दी गई थी। गुप्त शासक अनके 'छोटे राजाओं का राजा' होता था। सामन्त एवं प्रान्तीय शासक अपने-अपने क्षेत्रों में पर्याप्त स्वतंत्रता का अनुभव करते थे। केन्द्रीय शक्ति के निर्बल होने पर अधीन राजा अपनी स्वतंत्रता घोषित कर देते थे।

गुप्त प्रशासन में सभी ऊँचे-ऊँचे पद वंशानुगत होते थे।[1] इस समय प्रान्तीय शासकों एवं सामन्तों को अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे। प्रान्तीय पदाधिकारियों की नियुक्ति स्वयं राज्यपाल ही किया करता था। इस व्यवस्था में कर्मचारियों की राजभक्ति प्रान्त के राज्यपाल के प्रति होती थी, न कि सम्राट के प्रति।

इस समय भारतवर्ष में अनेक नयी-नयी शक्तियों का उदय हो रहा था। थानेश्वर में वर्द्धन, कन्नौज में मौखरि, कामरूप में वर्मन् तथा मालवा में

---

[1] श्रीवास्तव, के. सी. प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृ. 445

औलिकर वंशी यशोधर्मन का उदय हुआ। इससे गुप्त साम्राज्य का पतन हुआ तथा भारत विभाजन एवं विकेन्द्रीकरण की दिशा में उन्मुख हुआ।

इस समय शासन व्यवस्था राजतन्त्रात्मक थी। मौर्य शासकों के विपरीत गुप्तवंशी शासक अपनी दैवी उत्पत्ति में विश्वास करते थे तथा 'महाराजाधिराज', 'परमभट्टारक', 'एकराट्' 'परमेश्वर' जैसी विशाल उपाधियाँ धारण करते थे।[1] अपनी दैवी उत्पत्ति के बावजूद राजा स्वयं विधि नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता था। सम्राट प्रशासन का मुख्य स्रोत था जिसके अधिकार और शक्तियाँ असीमित थीं। वह कार्यपालिका का सर्वोच्च अधिकारी, न्याय का प्रधान न्यायाधीश एवं सेना का सर्वोच्च सेनापति होता था। युद्ध के समय वह स्वयं सेना का संचालन करता था। प्रशासन के सभी उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति सम्राट द्वारा ही की जाती थी।

इस समय सामन्तवाद का उदय हो चुका था। ये सामन्त तथा अधीन शासक 'महाराज' की उपाधि ग्रहण करते थे। सम्राट अपने शासन कार्य में अमात्यों, मन्त्रियों एवं अधिकारियों से सहायता प्राप्त करता था।

अनेक पदाधिकारियों के नाम अभिलेखों में मिलते हैं। जैसे, प्रतिहार एवं महाप्रतिहार, महासेनापति, महासन्धिविग्रहिक, दण्डपाशिक, विनयस्थिति-स्थापक, कुमारामात्य इत्यादि।

गुप्त साम्राज्य अनेक प्रान्तों में विभाजित था। प्रान्त का विभाजन अनेक जिलों हुआ था। प्रमुख नगरों का प्रबन्ध नगरपालिकायें चलाती थीं। ग्राम शासन की सबसे छोटी इकाई होता था, जिसका प्रशासन ग्राम सभा द्वारा चलाया जाता था।

---

[1] झा श्री माली, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 208

इस युग में प्रथम बार दीवानी तथा फौजदारी अपराधों से सम्बन्धित कानूनों की व्याख्या प्रस्तुत की गयी। सम्राट देश का सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। वह सभी प्रकार के मामलों के सुनवाई की अन्तिम अदालत था। व्यापारियों तथा व्यवसायियों की श्रेणियों के अपने अलग न्यायालय होते थे जो अपने सदस्यों के विवादों का निपटारा करते थे। ग्रामों में न्याय का कार्य ग्राम-पंचायतें किया करती थीं। पेशेवर वकीलों का अस्तित्व नहीं था। न्यायालयों में प्रमाण भी लिया जाता था। जहाँ कोई प्रमाण नहीं मिलता था वहाँ अग्नि, जल, विष, तुला आदि के द्वारा दिव्य परीक्षाएं ली जाती थी।[1] फाहियान के विवरण से पता चलता है कि दण्डविधान अत्यन्त कोमल था। मृत्युदण्ड नहीं दिया जाता था और न ही शारीरिक यातनाएं मिलती थीं। बार-बार राजद्रोह का अपराध करने वाले व्यक्ति का दाहिना हाथ काट लिया जाता था।

9. आर्थिक दशा-

यह काल आर्थिक दृष्टि से समृद्ध एवं सम्पन्नता का काल माना जा सकता है। कृषि की उन्नति पर विशेष ध्यान दिया गया। धान, गेंहूँ, जूट, तिलहन, कपास, ज्वार-बाजरा, मसाले, धूप, नील आदि प्रमुख मात्रा में उत्पन्न होते थे। सिंचाई की समुचित व्यवस्था थी। उद्योग धन्धे उन्नति पर थे। कपड़े का निर्माण करना इस काल का सर्व प्रमुख उद्योग था जिससे बहुसंख्यक लोगो को जीविका मिलती थी।[2] इसके अतिरिक्त हाथी-दाँत की वस्तुएं बनाना, मूर्तिकारी, चित्रकारी, शिल्प-कार्य, मिट्टी के बर्तन बनाना, जहाजों का सनिर्माण आदि इस समय के कुछ अन्य उद्योग धन्धे थे।

---

1 झा, श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 302

2 श्रीवास्तव, के. सी.; प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृ. 456

इस समय व्यापार व्यवसाय के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व प्रगति हुई। व्यवसाय एवं उद्योग का संचालन श्रेणियाँ करती थीं। श्रेणी एक ही प्रकार के व्यवसाय अथवा शिल्प का अनुसरण करने वाले लोगों की समिति होती थी। श्रेणियाँ बैंकों का भी कार्य करती थी और इस रूप में अपने सदस्यों को सूद पर धन देती थीं। प्रत्येक श्रेणी के पास अपनी अलग मुहर होती थी।

इस युग में व्यापारिक प्रगति हुई। लम्बी एवं चौड़ी सड़कों द्वारा प्रमुख नगर जुड़े हुए थे। भड़ौच, उज्जयिनी, प्रतिष्ठान, विदिशा, प्रयाग, पाटलिपुत्र, वैशाली, ताम्रलिप्ति, मथुरा, अहिछत्र, कौशाम्बी आदि प्रमुख व्यापारिक नगर थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उज्जयिनी को अपनी द्वितीय राजधानी के रूप में विकसित किया था।[1] इसने शीघ्र ही वैभव तथा समृद्धि में पाटलिपुत्र का स्थान ले लिया। माल ढोने के लिए गाड़ियों तथा जानवरों का प्रयोग किया जाता था। गंगा, ब्रह्मपुत्र, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा एवं कावेरी नदियों द्वारा भी व्यापार होता था। भारतीयों ने मालवाहक जहाजों का निर्माण किया था। कुछ जहाजों में एक साथ 500 तक व्यक्ति बैठ सकते थे। विविध प्रकार के कपड़े, मसाले, खाद्यान्न, नमक, बहुमूल्य पत्थर आदि सामग्रियाँ एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाई जाती थीं। इस समय बंगाल में ताम्रलिपि प्रमुख बंदरगाह था जहाँ से चीन, लंका, जावा, सुमात्रा आदि देशों के साथ व्यापार होता था। पश्चिमी भारत का प्रमुख बंदरगाह भृगुकच्छ (भड़ौच) था, जहाँ से पश्चिमी देशों के साथ समुद्री व्यापार होता था।[2] स्थल मार्ग द्वारा भी यूरोप के साथ भारत का व्यापार होता था। दक्षिणी-पूर्वी एशिया एवं पश्चिमी एशिया के विभिन्न देशों के साथ भी भारत का व्यापार उन्नति पर था। कपड़े, बहुमूल्य

---

1 श्रीवास्तव, के. सी. प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृ. 457

2 वही, पृ. 457

पत्थर, हाथी-दाँत की वस्तुएँ, गरम मसाले, नारियल, सुगन्धित द्रव्य, नील, दवाएं आदि निर्यात की प्रमुख वस्तुएं थीं।

व्यापारी एक स्थान से दूसरे स्थान को माल लेकर जाते समय समूह में चलते थे। इसे 'सार्थ' तथा इसके नेता को 'सार्थवाह' कहा जाता था। व्यापारियों की समिति भी होती थी जिसे 'निगम' कहा जाता था। निगम का प्रधान 'श्रेष्ठि' कहलाता था। रोमिला थापर का विचार है कि "गुप्तकाल की व्यापारिक समृद्धि उस आर्थिक प्रगति का अन्तिम चरण थी जो पिछले काल में प्रारम्भ हुई थी।[1]

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं, कि यद्यपि यह युग धनिको, बड़े व्यवसायियों, सामन्तों, बड़े-बड़े मठाधिपतियों और छोटे-छोटे राजा-महाराजाओं के लिए स्वर्णयुग के समान था, परन्तु जहाँ तक साधारण जनता का सवाल था, वे इस युग में नए-नए शोषण-चक्रों के अंदर दबते गए, विशेषकर सामंतवाद का प्रभाव बढ़ जाने से गरीब मजदूरों को बेगार और अर्धदास की अवस्था का सामना करना पड़ा।[2]

10. धार्मिक दशा-

यह काल ब्राह्मण (हिन्दू) धर्म की उन्नति के लिए प्रख्यात है। गुप्त शासक वैष्णव धर्म के अनुयायी थे तथा उनकी उपाधि परम भागवत की थी। उन्होंने वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान किया। परन्तु स्वयं नैष्ठिक वैष्णव होते हुए भी उनका दृष्टिकोण पूर्णतया धर्म-सहिष्णु था। उनकी धार्मिक सहिष्णुता एवं उदारता की नीति ने इस काल में विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों को फलने-

---

1 थापर, रोमिला, भारत का इतिहास, पृ. 111, 112

2 झा एवं श्रीमाली; प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 300

फूलने का समुचित अवसर प्रदान किया था। वे बिना किसी भेद-भाव के उच्च प्रशासनिक पदों पर सभी धर्मानुयायियों की नियुक्तियाँ करते थे।

यद्यपि इस समय प्रजा को अपनी इच्छानुसार धर्माचरण की स्वतन्त्रता प्राप्त थी तथपि उत्तर भारत में वैष्णव धर्म अत्याधिक लोकप्रिय था। इस काल के बहुसंख्यक अभिलेखों में भगवान् विष्णु के मन्दिरों का उल्लेख मिलता है। विष्णु के अतिरिक्त शिव, सूर्य, नाग, यक्ष, दुर्गा, गंगा-यमुना आदि की उपासना होती थी। मन्दिर इस समय उपासना के प्रमुख केन्द्र थे। गुप्तकाल के अनेक मन्दिर एवं उनके अवशेष आज भी प्राप्त हैं। हिन्दू देवी-देवताओं के अतिरिक्त जैन एव बौद्ध मतानुयायी भी देश में बड़ी संख्या में विद्यमान थे।

इस काल में में अनेक विदेशियों ने हिन्दू धर्म एवं संस्कारों को अपना लिया था। जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि दक्षिणी-पूर्वी एशिया के विभिन्न द्वीपों में हिन्दू-धर्म का व्यापक प्रचार हो चुका था।[1]

(ख) दशकुमारचरितम् के रचना-काल में भारतीय समाज

दण्डी कृत दशकुमारचरितम् सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण या आठवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण की रचना है।

इस काल के भारतीय समाज का अध्ययन हम निम्नलिखित शीर्षकों में कर सकते हैं-

---

1 श्रीवास्तव, के. सी.; प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृ. 458-59

1. वर्ण-व्यवस्था एवं जाति-प्रथा –

इस समय तक 'वर्ण' जाति का पर्यायवाची शब्द बन गया था किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि गुण और कर्म के आधार पर वर्ण निर्धारण की प्रक्रिया पूर्णरूप से समाप्त हो गई। निः सन्देह ब्राह्मणों ने वर्ण को जाति का पर्यायवाची शब्द मानकर जन्म के आधार पर वर्ण मानना प्रारभ कर दिया।

इस काल में सम्भवतः अनेक ब्राह्मणों की वेदाध्ययन और यज्ञ कराने में अभिरुचि न थी। कुछ को शस्त्र चलाना रुचिकर प्रतीत हुआ इसलिए वे योद्धा बन गए। कुछ को कृषि कार्य या व्यापार करना अच्छा लगता था उन्होंने वैश्यवृत्ति अपना ली। कुछ उच्च पदों पर नियुक्त हुए क्योंकि उनमें इन पदों पर कार्य करने के लिए अभीष्ट गुण और योग्यता विद्यमान थी। जातीय इसका यह अर्थ है कि कुछ ब्राह्मणों में जाति के अनुरूप कार्य करने का सिद्धान्त पूर्णतया सफल नहीं हुआ। गुण और कर्म पर आधारित वर्ण का सिद्धान्त अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ।

क्षत्रियों में तो वर्ण सिद्धान्त पूर्णरूप से सफल सिद्ध हुआ। चारों जातियों से बाहर गोंड आदि कुछ जनजातियाँ थीं या हूण आदि विदेशी जातियाँ थीं। उनमें से जिन्होंने हिन्दू संस्कृति को अपना लिया उन सभी की गणना क्षत्रियों में कर ली गई। इस प्रकार क्षत्रियों में वर्ण सिद्धान्त सबसे अधिक व्यापक रूप से सफल हुआ।[1] इस काल में कुछ शासक क्षत्रियेतर अर्थात् ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र भी थे।

इस काल में जिन किन्हीं व्यक्तियों ने व्यापार किया उन सभी की गणना वैश्यों में की गई। उनमें भी जाति का सिद्धान्त इतना प्रभावशाली न हुआ जितना कि उनके गुणों और कर्म का।

---

[1] शर्मा, दशरथ; राजस्थान थ्रू दि एजिज, पृ. 438

शूद्रों का अपना कोई संगठन था ही नहीं। उनमें अधिकतर पैतृक व्यवसाय करते थे। शिल्पियों और द्विजों की संस्कृति से हीन सांस्कृतिक स्तर वाले सभी व्यक्तियों को जिनकी पहले अपनी श्रेणियां थीं, शूद्र कहा गया। उनकी आर्थिक स्थिति पहले की अपेक्षा बहुत अच्छी हो गई थी, इसलिए उन्हें उच्च पदों पर भी नियुक्त किया गया और समाज में उनकी प्रतिष्ठा भी बढ़ी। पूर्तधर्म का अनुसरण करके वे हिन्दू समाज के सदस्य होने के अधिकारी बन चुके थे। जो व्यक्ति सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत नीचे थे या गन्दे कार्य करते थे उन्हें अन्त्यज या म्लेच्छ कहा गया। उनकी गणना चारों वर्णों में नहीं की गई।

2. आश्रम-व्यवस्था –

इस काल में भारतीय समाज में आश्रम व्यवस्था का वही रूप रहा जो गुप्त काल में था। परम्परागत चारों आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास विद्यमान थे।

3. दास-प्रथा –

इस काल में भी अधिकतर दास घर का काम-काज करते थे। दास के कार्य के अन्तर्गत निकृष्ट कर्म करना और जहां स्वामी भेजे वहां जाना है। उनका कार्य परिचर्या करना अर्थात् मालिश करना, परिवार और सम्पत्ति की देखभाल करना भी था।

पूर्व काल की अपेक्षा इस काल में एक विशिष्ट परिवर्तन दिखलाई देता है। पहले राज्य ही अधिकतर दासों को कृषि कार्य में लगाता था। बहुत कम दास किसानों की कृषि-कार्य में सहायता करते थे। बौद्ध धर्म के संरक्षक राजाओं ने बौद्ध विहारों को काफी भूमि दान में दी। बौद्ध भिक्षु इतनी भूमि पर स्वयं कृषि करने में असमर्थ थे। इत्सिंग के अनुसार कुछ भिक्षु भूमि को

किसानों को कृषि के लिए देते थे। किन्तु कुछ भिक्षु अत्यन्त लोभी थे। वे दास और दासियों से स्वयं खेती करवाते थे। इसका यह अर्थ है कि इस काल में कृषि दासों की संख्या बहुत बढ़ गई और जब भूमि बेची जाती तो उसके साथ वे दास भी बेच दिए जाते थे।

इस काल में दासियाँ कूटना, पीसना, पानी भरना, घर में झाड़ू लगाना, घर को गोबर से लीपना, तरकारी काटना, मसाला पीसना, लकड़ी काटना, घास काटना, दूध दुहना, दही से मक्खन निकालना, भोजन बनाना, मालिक के हाथ-पांव धोना आदि कार्य करती थीं। दासियां स्वामी के परिवार के लोगों के मलमूत्र भी उठातीं और खेतों में हल चलाना आदि कृषि-कार्य करती थीं।[1]

मेघातिथि[2] ने ऐसी दासियों का उल्लेख किया है जो उपभोग के लिए रखी जाती थीं और जिन्हें भोजन वस्त्र दिया जाता था। विज्ञानेश्वर ने ऐसी दासियों को 'अवरुद्धा' या 'भुजिष्या' कहा है। बहुत-सी दासियों का प्रयोग उपपत्नियों अर्थात् रखैल स्त्रियों के रूप में किया जाता था।[3]

इस काल में दास राजाओं, सामंतों और अभिजात वर्ग के व्यक्तियों की सेवा तो करते ही थे। बौद्ध विहारों और वैष्णव, शैव और शाक्त मन्दिरों में भी अनेक दास कार्य करते थे। सातवीं शताब्दीं ई. से पूर्व ही कन्याओं को देवदासी के रूप में मन्दिरों को देने की प्रथा विद्यमान थी। राजतंरगिणी से ज्ञात होता है कि कश्मीर के मन्दिरों में सातवीं शताब्दी में अनेक

---

1. हेमचन्द्र, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित।
2. मेघातिथि, मनुस्मृति की टीका।
3. लेख पद्धति।

देवदासियां रहती थीं।[1] दक्षिण भारत के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वहां भी मन्दिरों में देवदासियां रखी जाती थीं।

मेधातिथि के अनुसार स्वामी को अपने दास, उसकी पत्नी और पुत्र से अच्छा व्यवहार करना चाहिए। उसने लिखा है कि मनु ने जो यह लिखा है कि दास का भी सम्पत्ति पर अधिकार है।[2] उसका यह आशय है कि वह अपने स्वामी की अनुमति से उस सम्पत्ति का उपभोग कर सकता है। सामान्यतः दासों की स्थिति बहुत खराब थी। दासों को भारी बोझ उठाने पड़ते थे; वे भूखे प्यासे रहकर काम करते और उन्हें गधों की भाँति पीटा जाता था। सबसे अधिक दुर्दशा दासियों की थी। उन्हें दिन-रात, सर्दी, गर्मी, वर्षा प्रत्येक ऋतु में हर समय कठिन परिश्रम करना पड़ता था। यदि मारने के कारण दासी की मृत्यु भी हो जाए तो उसका स्वामी केवल गंगा स्नान करके पाप-मुक्त हो जाता था।

इस काल में दासप्रथा के विस्तार के अनेक कारण थे। सामंतों की लूट-खसोट के कारण देश की आर्थिक दशा खराब हो गई थी। जब दुर्भिक्ष पड़ते थे तब मनुष्यों को प्रायः अपना निर्वाह करना कठिन हो जाता था और वे स्वयं को बेच देते थे। सामंतीय युद्धों में बंदी किए गए व्यक्तियों से भी दासों जैसा व्यवहार किया जाता था। समाज का नैतिक स्तर गिर जाने के कारण मानव की प्रतिष्ठा बहुत गिर गई थी, ऐसी स्थिति में दासों की स्थिति पूर्वकाल की अपेक्षा अधिक खराब होना स्वाभाविक था।

---

1 कल्हण, राजतंरगिणी।

2 मेधातिथि टीका, मनुस्मृति, 8.416

4. स्त्रियों की दशा –

इस काल में पुत्री की स्थिति अब परिवार में पुत्र की अपेक्षा बहुत गिर गई थी। पुत्र सुख का प्रतीक है और पुत्री दुख का मूल है।[1]

इस कााल में कन्याओं की उच्च शिक्षा धनी परिवारों तक सीमित थी। उन्हें साहित्य के अतिरिक्त संगीत, नृत्य और चित्रकला की शिक्षा दी जाती थी। संस्कृत सुभाषितावलियों से हमें ज्ञात होता है कि इस काल की कुछ स्त्रियां अपनी मनोहर काव्य-शैली के लिए प्रसिद्ध थीं।

इस काल के स्मृतिकार साधारणतया यौवनारम्भ से पूर्व विवाह करने के पक्ष में थे। उनके अनुसार पिता को पुत्रियों का विवाह 8-9वर्ष की अवस्था में कर देना चाहिए। उनके अनुसार जो पिता अपनी पुत्री का विवाह उसकी दस वर्ष की आयु होने से पूर्व नहीं करता वह महान पाप का भागी होता है। कादम्बरी में महाश्वेता स्वयंवर को ठीक नहीं समझती। इस काल में भी कुछ गांधर्व विवाह होते थे। इनमें संस्कार वर-वधू के मिलने के बाद होता था।[2] अन्तर्जातीय विवाह होते थे किन्तु बहुत कम। चारों वर्णों में वैवाहिक सम्बन्ध हो सकते थे।

इस काल के स्मृतिकार यह आशा करते थे कि पत्नी हर प्रकार से पति की सेवा करे जैसे कि पैरों की मालिश करना। परन्तु पति से भी यह आशा की जाती थी कि वह अपनी पत्नी के सुख का पूर्ण ध्यान रखे। पति और पत्नी दोनों ही एक-दूसरे पर अत्याचार होने पर राजा के द्वारा कानूनी कार्यवाही करके उस अत्याचार का प्रतिकार कर सकते थे।[3] पत्नी के भरण-

---

[1] कथासरित्सागर, 28, 6

[2] वृहद्यम, 3.21-22

[3] मेधातिथि, टीका मनु. 8, 299

पोषण का पूरा उत्तरदायित्व पति पर समझा जाता था। मेधातिथि का मत था कि अपराध करने पर भी पति को पत्नी को अपने घर से बाहर नहीं निकालना चाहिए। किसी बड़े अपराध जैसे कि परपुरुषगमन करने पर यदि स्त्री का परित्याग भी करना पड़े तो मनु के अनुसार पति को उसके निर्वाह के लिए आवश्यक धन देना चाहिए।[1] इस कल में भी अभिजात वर्ग के मनुष्य कई पत्नियां रखते थे।

विधवा को पति की स्मृति में पवित्र जीवन बिताना चाहिए। वृद्ध हारीत ने लिखा है कि विधवा को बाल संवारना छोड़ देना चाहिए। पान, सुगन्धित वस्तुओं, फूल, आभूषणों और रंगीन वस्त्रों का भी प्रयोग नहीं करना चाहिए। अंजन नहीं लगाना चाहिए। इन्द्रियों का दमन करना चाहिए। सदा हरि की पूजा करनी चाहिए और रात्रि को कुशा की चटाई पर सोना चाहिए। राजा को विधवा की सम्पत्ति की रक्षा करनी चाहिए। यदि विधवा संयम का जीवन न बिताए तो राजा उसे पति के मकान से निकाल सकता है।[2]

विधवा स्त्रियां अपनी इच्छा से सती होती थी। किन्तु यह प्रथा इस काल में भी उत्तर भारत के राजघरानों तक ही सीमित थी। दक्षिणपथ में सती प्रथा अहुत कम थी और सुदूर दक्षिण में अपवादस्वरूप। सातवीं शताब्दी में राजपरिवारों में सती के कई उदाहरण मिलते हैं। हर्ष की माता यशोमती को जब यह ज्ञात हुआ कि प्रभाकरवर्धन का रोग असाध्य है तो वह पति की मृत्यु से पूर्व ही जलकर सती हो गई किन्तु बाणभट्ट सती के पक्ष में नहीं थे।[3] 700 ई. के लगभग अंगिरस और हारीत स्मृतियां लिखी गईं। वे सती

---

1 स्मृति-चन्द्रिका, 568-70, 572-75

2 मेधातिथि, टीका मनु. 8, 28

3 कादम्बरी पूर्वार्द्ध, पृ. 308

की प्रशंसा करती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस काल में सती प्रथा के विषय में सब विद्वान् एकमत न थे।

कुछ धनी परिवारों में पर्दे की प्रथा इस काल में विद्यमान थीं, किन्तु राजसभाओं में स्त्रियां बिना पर्दे के उपस्थित होती थीं। पर्दे की प्रथा देश के सभी भागों में न थी और जनसाधारण में इसका प्रचलन मुसलमानों के आने के बाद ही हुआ।

इस काल में कुछ स्त्रियों ने सुचारु रूप से अपने राज्य का शासन किया। कश्मीर में अनंत की पत्नी सूर्यमती ने स्वयं शासन किया और अपने अयोग्य पुत्र के लिए राजसिंहासन नहीं छोड़ा। सातवीं शती ई. में चालुक्य वंशीय विजयभट्टारिका ने दक्षिणापथ में शासन किया।

इस काल के स्मृतिकारों का यही मत था कि यदि कोई पुरुष बलपूर्वक किसी स्त्री से सम्भोग कर ले तो उसके पति को उसे छोड़ना नहीं चाहिए। उस स्त्री के प्रायश्चित करने पर पति को उसे अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। अत्रि तो यहां तक कहते हैं कि यदि कोई स्त्री अन्य पुरुष के सहवास के कारण गर्भवती हो जाए तो जब बालक का जन्म हो जाए तब उसका पति उस बालक को किसी अन्य व्यक्ति को दे दे और प्रायश्चित करने पर उस स्त्री को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर ले। ९०० ई. तक अपहृत स्त्रियों के प्रति समाज का यही दृष्टिकोण रहा।

5. शिक्षा –

तत्कालीन अन्य ग्रन्थों में शिक्षा-व्यवस्था वही थी, जो मृच्छकटिकम् के रचना-काल में थी।

6. खान-पान -

ऐसा मालूम होता है कि इस समय के समाज में गेंहूँ, चावल और फल भोजन के प्रमुख अंग थे। माँस, मछली और शराब का भी रिवाज था। बंगाल में शाक्तमत के कारण माँस-भक्षण और मदिरा-पान पर बड़ा जोर दिया जाता था। ऐसा मालूम होता है कि ब्राह्मण भी मांस खाते थे। ब्राह्मण शराब नहीं पीते थे, परन्तु क्षत्रियों में यह प्रथा प्रचलित थी।

मगध में चावल का खाना बहुत प्रचलित था। महाशलि चावल सबसे अच्छा समझा जाता था। उत्तर भारत के अन्य प्रदेशों में गेंहूँ और जौ का बड़ा रिवाज था। लोग उड़द, मूंग, अरहर, राजमाह और तिल भी खाते थे। लोग केला, खरबूज, नारियल, अंगूर, नाशपाती आदि खाते थे। दूध, दही, घी, मक्खन और पनीर बड़ी मात्रा में भोजन का भाग होते थे। ह्वेनसांग के अनुसार 'लोग रोटी, चावल, दूसरे प्रकार के अन्न, दूध, चीनी और उनसे बने अन्य पदार्थ तथा सरसों का तेल खाते हैं। इनके अतिरिक्त मछली के साथ-साथ बकरे और भेड़ का मांस भी खाते थे। कुछ मांस ऐसे थे जो नहीं भी खाये जाते थे। जो लोग प्याज और लहसुन खाते थे वे जाति से बहिष्कृत कर दिये जाते थे। अनेक प्रकार की सुराएं विभिन्न जातियों के लोग पीते थे। द्राक्षासव और ईख का रस ब्राह्मण और बौद्व पीते थे, दाख और ईख की सुरा क्षत्रिय, तीव्रतम सुरा वैश्य तथा अन्य प्रकार की सुरा निम्न वर्ण के लोग।'

उच्च जातियों के लोग मांस नहीं खाते थे, परन्तु क्षत्रियों में इसका रिवाज था। श्राद्ध के समय अन्य जातियों के व्यक्ति भी मांस खाते थे। वैश्य फलों से बनी शराब पीते थे। तांत्रिक लोग शराब पीते थे। अधिकतर लोग

मांस नहीं खाते थे। कुछ जातियों के लिए प्याज और लहसुन का प्रयोग वर्जित था।[1]

इत्सिंग का भी कथन है कि भारत के लोग प्याज नहीं खाते थे। पुरोहित लोग खाना खाने से पहले हाथ-पैर धो लिया करते थे। ये अलग-अलग छोटी-छोटी कुर्सियों पर बैठते थे। पवित्र तथा जूठे भोजन में भेद रखना भारत का रिवाज था। यदि एक कौर खा लिया जाए तो भोजन जूठा हो जाता था और उन बर्तनों का प्रयोग नहीं किया जाता था जिनमें वह भोजन परोसा जाता था। यह प्रथा धनी और निर्धनों में प्रचलित थी। खाना खाने के बाद प्रत्येक भारतीय को मुँह साफ करना पड़ता था।[2]

7. वस्त्र एवं आभूषण-

इस काल में कई लोग बिना सिले कपड़े पहनते थे जैसे चादर और धोती। कंचुक, चीन चोलक, बारबान और कूर्पासक सिले हुए कपड़े थे। कुंचक पूरे बाजू वाला लम्बा कोट था। चीन चोलक चीनी शैली का ओवरकोट था। बारबान पूरी बाजू का कोट था जिसे अधिकतर सैनिक पहनते थे। कूर्पासक आधी बाजू का कुर्ता था। महाकवि बाण ने चार प्रकार के पजामों का वर्णन किया है। बौद्ध भिक्षु तीन वस्त्र पहनते थे। साधारणतया स्त्रियाँ उत्तरीय, कंचुक और चण्डातक पहनती थी। उत्तरीय ओढ़नी, कंचुक चोली और चण्डातक पेटीकोट थे। उत्सवों के अवसर पर अधिकतर स्त्रियाँ रंगीन कपड़े पहनती थीं। मध्यदेश की स्त्रियाँ साड़ी पहनती थीं। बाहर जाते समय चादर का प्रयोग करती थीं। स्त्रियाँ छींट के कपड़े पहनती थीं। उनको रंगीन कपड़े अच्छे लगते थे। कान, गले, हाथ और पैर में कई प्रकार के

---

1 महाजन, वी. डी.; प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 653

2 वही, पृ. 608-9

आभूषण पहने जाते थे। स्त्रियां श्रृंगार प्रिय अवश्य थीं परन्तु आधुनिक युग की स्त्रियों की भाँति नग्न न थी। वे अपने शरीर को वस्त्रों और आभूषणों से पूरी तहर ढकती थीं। हार, अंगूठियाँ, कड़े, मालाएं, बाजूबन्द, कर्णफूल सभी प्रचलित थे परन्तु नथ का प्रयोग न था।[1]

ईत्सिंग चीनी चात्री था, जिसने 672 और 688 ई. के बीच भारत में भ्रमण किया। उस समय के भारतीयों की सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक अवस्था का उसने सजीव चित्र खींचा है। ईत्सिंग बताता है कि सारे भारत में लोग दो कपड़े पहिनते थे। वे चौड़ी लिनन के थे और आठ फुट लम्बे थे। उनकी कटाई या सिलाई नहीं की जाती थी। उन्हें केवल कमर के चारों ओर बाँध लिया जाता था जिससे शरीर का निचला भाग ढक जाए। उत्तर-पश्चिम के लोग कपड़े प्रयोग नही करते थे। वे ऊन और चमड़े के वस्त्र पहनते थे। वे कमीजें और पायजामे पहनते थे। इंत्सिंग एक अन्य प्रकार के वस्त्र का भी उल्लेख करता है जो बाएं कन्धे के ऊपर पहना जाता था। घाघरा शरीर के निचले भाग के चारों ओर बाँध लिया जाता था। इसके लिए मुलायम सफेद कपड़ा प्रयोग किया जाता था।[2]

8. राजनीतिक दशा-

भारत में इस समय कोई शक्तिशाली राज्य न था, जिसके नीचे बाकी राज्य आ सकते। उत्तरी भारत में पालों, गुर्जर-प्रतिहारों, कर्कोट आदि राजवंशों ने और दक्षिण भारत में राष्ट्रकूट, पल्लव, गंग, चोल, चालुक्य आदि राजवंशों ने शासन किया। यद्यपि शासन करने वाले राजवंशों में परिवर्तन होता रहा, तथपि राजनीतिक दशा में कोई सुधार न हुआ। यह

---

1 महाजन, वी. डी.; प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 653-654

2 वही, पृ. 609

ठीक है कि गुर्जर-प्रतिहारों का स्थान कल्याणी के चालुक्यों ने ले लिया, परन्तु जो राजनीतिक अवस्था हर्षवर्धन के राज्यकाल के बाद शुरू हुई थी, वह वैसी ही रही।

इस काल की शासन व्यवस्था पुराणों, स्मृतियों उन पर लिखे गए भाष्यों, नीतिशास्त्रों और लोक परम्पराओं की मान्यताओं पर आधारित थी।[1] महाभारत की व्यवस्था का भी महत्त्व माना जाता था। प्रजा की रक्षा करना राजा का परम धर्म और कर्त्तव्य था। सुरक्षा प्रदान करने के वदले में राजा अपनी आजीविका प्रजा से लेता था। यदि राजा निर्धन, असहाय और विद्वान ब्राह्मणों की रक्षा न करता तो वह स्वर्ग का अधिकारी नहीं हो सकता था। जहाँ तक अत्याचारी राजा का प्रश्न है, प्रजा उसकी हत्या कर सकती है और उससे मुक्त हो सकती है। ऐसा न होने पर सेना, कोष आदि का विनाश आवश्यक है।

इस काल में राजा सर्वशक्तिमान होता था। वह न्याय और व्यवस्था के मामले में सबसे ऊपर होता था। वह सेना का सर्वोच्च नायक था। वह व्यवहार में निरंकुश हो सकता था, परन्तु नैतिक स्तर पर ही उनके योग्य और अनुभवी मन्त्रियों का उस पर नियंत्रण होता था। यदि राजा निर्बल होता तो उसके मंत्रियों को षडयन्त्र रचने का अवसर मिल जाता और वे राजा को सिंहासन से उतार देते।

इस काल में राजा अपने कुल के प्रमुख पुरुषों की सहायता से राज्य का शासन करता था। वह राजदरबार में बैठकर राज्य का कार्य सोचता और करता था। सामन्त पद्धति के कारण यह सम्भव नहीं था कि राजा लोग प्रजा के हित और कल्याण का ध्यान रखें। उनकी अपनी सारी शक्ति अपने

---

[1] महाजन, वी. डी.; प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 642

आपको शक्तिशाली बनाने में लगी रहती थी थकि सामन्त लोग स्वतन्त्र हो जॉए। राज्यों में लोकतन्त्र शासन का सर्वथा अभाव था तथपि ग्राम संस्थाओं के रूप में ऐसी संस्थाएं विद्यमान थीं जिनके द्वारा जनता अपने साथ सम्बंध रखने वाले मामलो की व्यवस्था स्वयं कर सकती थी।

केन्द्रीय शासकों के कई प्रकार के गौरवशाली टाईटल थे जैसे परम भट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर इत्यादि। उनके नीचे महाराजा आदि होते थे। एक राजा की मृत्यु के बाद उसके अपने वंश का सबसे बड़ा पुत्र उत्तराधिकारी बनता था।

राज्य के कार्य को चलाने के लिए राजा मन्त्री नियुक्त करता था। उनकी संख्या काम के अनुसार होती थी। यदि राजा मंत्री को नियुक्त कर सकता था तो वह उसे अपनी इच्छा के अनुसार हटा भी सकता था। मन्त्रियों के पदों के वंशानुगत होने की प्रवृत्ति आ गई थी।

नगर प्रशासन में सैनिक और असैनिक प्रशासन का विभाजन स्पष्ट होता था। केन्द्रीय शासन से सम्बंध रखने वाले अनेक कर्मचारियों का उल्लेख है जैसे सान्धिविग्राहिक, अक्षपटालिक, भांडागारिक, महाप्रतिहार, महादण्डनायक, धर्मस्थीय, सेनापति, युवराज , प्रान्तीय शासक इत्यादि।

उस समय भूमि दान की प्रथा प्रचलित थी। राजा अपने सम्बंधियों बड़े अफसरों और ब्राह्मणों को बड़ी संख्या में ग्राम दान देता था।

ग्राम प्रशासन की सबसे छोटी इकाई थी। प्रत्येक ग्राम की एक सभा या महासभा होती थी जो अपने क्षेत्र में शासन का सारा कार्य करती थी। ग्राम संस्थाओं का स्वरूप छोटे-छोटे राज्यों के समान था। इसलिए ग्राम वालों को वे सब काम करने पड़ते थे जो राज्य करते थे।

9. आर्थिक दशा-

इस समय कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार था। इस काल के ग्रन्थों से कृषि की विकसित अवस्था का पता चलता है। ह्वेनसांग ने भूमि की उर्वरता तथा अनेक प्रकार के अन्नों के बहुतायत से पैदा होने का उल्लेख किया है। लोहे के फाल वाले हल का प्रचलन था। सिंचााई व्यवस्था में सुधार हुआ और सिंचाई के साधन में भी वृद्धि हुई।[1] तालाब खुदवाना पुण्य काम समझा जाता था।

ह्वेनसांग के अनुसार खेती करना शूद्रों का ही व्यवसाय था। सामंती व्यवस्था के कारण राजा तथा कृषक के बीच अनेक बिचौलिए होते थे, जिन्हें कृषकों को खेत की उपज का भाग देना पड़ता था।

इस युग में व्यापार में ह्रास हुआ। ग्राम आत्मनिर्भर थे, जहाँ उत्पादन स्थानीय आवश्यकताओं के लिए होता था। व्याापार विनिमय के लिए अतिरिक्त उत्पाद नहीं होता था, क्योंकि अतिरिक्त उत्पादन का अधिक भाग जमींदार ले लेते थे। दैनिक उपभोग की वस्तुएं, जैसे नमक, मसाले, धान, लोहा, कपड़े आदि चीजें एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाई जाती थीं। बंगाल मलमल, पान, सुपारी तथा सण के लिए प्रसिद्ध था। कलिंग में धान की कुछ अच्छी किस्में होती थीं। मालवा गन्ने, नील और अफीम के लिए प्रसिद्ध था। इसी प्रकार द्वारका शंख तथा सीपी के लिए और गुजरात सूती कपड़े, नील तथा चमड़े की बनी वस्तुओं के लिए प्रसिद्ध था। दक्षिण से मोती, मूल्यवान पत्थर, चंदन, मसाले-जैसे लवंग, काली मिर्च, इलायची इत्यादि आते थे। भारत के समुद्र-तटों पर अनेक बन्दरगाह थे, जैसे पूर्वी तट

---

[1] झा एवं श्रीमाली; प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 384

पर ताम्रलिप्ति, सप्तग्राम, पुरी, कलिंग, शिकाकोस और पश्चिमी तट पर देवल, थाना, खंभात, भड़ौच तथा सोमनाथ।

इन बन्दरगाहों में देश के विभिन्न नगरों से बिक्री की वस्तुएं आती थीं, जिनका बाहरी देशों में निर्यात होता था और बाहर के देशों की वस्तुएं, जैसे सोना, ताँबा, टिन, मसाले, मूँगा तथा घोड़े भारत के बंदरगाहों पर लाए जाते थे।

एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के लिए अनेक मार्ग थे। इस समय अनेक कारणों से व्यापार तथा वाणिज्य में ह्रास दिखाई देता है। चोर और डाकुओं के कारण मार्ग सुरक्षित नहीं थे, केन्द्रीय शक्ति के विघटन के कारण व्यापारियों को जान-माल की सुरक्षा सुलभ नहीं थी। राजनीतिक विप्लव के कारण कुछ सामंतों ने डकैतों के पेशे अपना लिये थे। नदियों द्वारा व्यापार अधिक सुरक्षित समझा जाता था।

भारत के पूर्वी तथा दक्षिण मालाबार और कोरोमण्डल तट पर स्थित बंदरगाहों से चीन, दक्षिण-पूर्व एशिया और पूर्वी द्वीपांतरों से व्यापार होता था। बंगाल में ताम्रलिप्ति सबसे बड़ा बंदरगाह था। बाद में ताम्रलिप्ति का स्थान सप्तग्राम ने ले लिया था। व्यापार में सबसे अधिक धनलाभ दक्षिण, गुजरात और बंगाल को होता था।

वस्त्र-उद्योग इस काल में उत्कृष्ट अवस्था में था।[1] ह्वेनसांग ने अनेक प्रकार के रेशमी तथा सूती वस्त्रों का उल्लेख किया है, जैसे कौशेय, तथा क्षौम के रेशों से बना हुआ कपड़ा होता था। काशी, वत्स, मगध, बंगाल, कामरूप, कलिंग, गुजरात, अपरांत, मदुरा पहले से ही वस्त्र उद्योग के केन्द्र थे।

---

[1] ओम प्रकाश, प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं आर्थिक इतिहास, पृ. 101

ताँबे, काँसे और पीतल के बर्तन बनाए जाते थे। इस काल के अभिलेखों में लौहकार के अतिरिक्त कांस्यकार तथा पीतलकर का उल्लेख आया है।[1]

शिल्प और उद्योग अनेक श्रेणियों में संगठित होते थे।[2] इन श्रेणियों का एक मुखिया होता था। ये श्रेणियाँ तब भी बैंक का काम करती थीं।

10. धार्मिक दशा-

इस काल में हिन्दू धर्म भारत में अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया था। हिन्दू धर्म का केन्द्र मध्य देश था। वहाँ से ब्राह्मणों ने बंगाल में ब्राह्मण धर्म का प्रचार किया और उन्हें वहाँ के राजाओं से भी काफी योगदान मिला। इस काल में वैदिक देवता बड़ी तीव्रता से बदलने लगे। पुराने देवी-देवताओं के स्थान पर नये देवी-देवताओ की मान्यता होने लगी। इस समय लोगों में विशेषकर राजाओं और धनी लोगों में दान देने की रुचि थी। जो दान आता गया, उससे नये-नये मन्दिर बनते गये। लेखों और मूर्तियों से पता लगता है कि त्रिदेवों के स्थान पर पंचदेवों की उपासना होने लगी।

वैष्णव धर्म भक्ति मार्ग का पोषक था। इसमें कर्मकाण्ड और अनुष्ठानों की अपेक्षा भक्ति और उपासना को अधिक महत्त्व दिया जाता था। कृष्ण के सम्बंध में अनेक प्रकार की गाथाओं का विकास भी इसी युग में हुआ। इस समय तक शैव धर्म का भारत में पर्याप्त प्रचार हो चुका था। भारत से बाहर भी शैव धर्म का प्रचार था। शाक्त सम्प्रदाय का भी इस काल में बड़ा प्रचार हुआ। इस समय थन्त्रिक विचारधारा का भी महत्त्वपूर्ण विकास हुआ। बौद्ध एवं जैन धर्म भी इस समय कुछ भागों में प्रचलित था।

---

1 ओम प्रकाश, प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं आर्थिक इतिहास, पृ. 102

2 वही, पृ. 103

इस समय लोगों में धार्मिक सहिष्णुता थी। मूर्ति पूजा जोरों पर थी और अधिक से अधिक संख्या में मन्दिर बनवाये गये। मूर्तिपूजा सभी धर्मों में विद्यमान थी। सभी लोग देवताओं की पूजा करते थे। इस काल में कई नये देवी-देवता बनाये गये और कई देवता एक से दूसरे सम्प्रदाय में अपनाये गये।[1]

◆❖◆
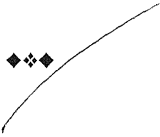
1 महाजन, बी.डी.; प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 655-63

तृतीय अध्याय

अध्याय- 3

(क) 1. मृच्छकटिकम् में वर्णित वर्ण-व्यवस्था एवं जाति-प्रथा

प्राचीन भारत का समाज वर्ण-व्यवस्था पर आधारित था। इस देश के चिन्तकों ने मानव समाज को चार वर्णों में विभाजित किया था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र ये चार वर्ण हैं। किसी भी समाज के मनुष्यों को उनके कर्मों के आधार पर इन चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। जो पढ़ने-पढ़ाने, धार्मिक कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करने और धर्ममार्ग के अनुसरण के लिए प्रेरित करने के काम करें, उन्हें ब्राह्मण कह सकते हैं। देश की बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं से रक्षा करना और समाज में शान्ति एवं सुरक्षा की व्यवस्था करना क्षत्रिय वर्ण का कार्य है। कृषि, पशुपालन, व्यापार, व्यवसाय, उद्योग आदि द्वारा सम्पत्ति का अर्जन जिन लोगों द्वारा किया जाये, उन्हें वैश्य कहा जा सकता है। जो अन्य तीनों वर्णों के लोगों की सेवा में रहकर अपना जीवन व्यतीत करें, वे शूद्र हैं।

मृच्छकटिकम् में चित्रित समाज के वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोपरि एवं सबसे सम्माननीय था। प्रायः वे सच्चरित्र एवं पवित्र होते थे। उनका घर वेदमन्त्रों से गुञ्जायमान रहता था। पूजा आदि अवसरों पर ब्राह्मणों को निमन्त्रण एवं दक्षिणा दी जाती थी।[1] धनी ब्राह्मण दक्षिणा आदि स्वीकार नहीं करते थे। बसंतसेना मदनिका से कहती है कि ब्राह्मण लोग तो हमारे पूज्य हैं।[2] एक स्थान पर दुष्ट शकार ने भी कहा है कि देवताओं एवं ब्राह्मणों के सम्मुख वह नग्न पैरों से पहुँचेगा। विट ब्राह्मण मैत्रेय के चरणों में गिरकर

---

1 डॉ. त्रिपाठी, रमाशङ्कर, मृच्छकटिकम् , अङ्क-1, पृ. 23

2 वही, अङ्क-2, पृ. 121

उससे क्षमा मांगता है।[1] ब्राह्मणों को अपने ब्राह्मणत्व का स्वाभिमान भी था। ब्राह्मण मैत्रेय चारुदत्त के पैरों को धोने से मना कर देता है।[2] नवम अंक में चारुदत्त के विषय में अधिकरणिक का यह कहना ब्राह्मणों की पूजनीय स्थिति का प्रतीक है कि पापी भी ब्राह्मण वधयोग्य नहीं है।[3] फिर भी राजा पालक द्वारा चारुदत्त को फांसी का दण्ड एक अपवाद था। राजा पालक द्वारा मृत्युदण्ड दिये जाने पर ब्राह्मण चारुदत्त कहता है कि हे राजन् यदि शत्रु शकार के कहने पर ही मुझ ब्राह्मण को मारते हो तो तुम पुत्र तथा पौत्रों के साथ नरक में गिरोगे।

इस समय ब्राह्मण अपने पूर्व-निर्धारित कार्यों के अतिरिक्त अन्य वर्णों के लिए निर्धारित कर्मों का भी सम्पादन करने लगे थे। व्यापार कार्य वैश्य वर्ण के लिए निर्धारित था, किन्तु चारुदत्त एवं उसके पूर्वज ब्राह्मण होते हुए भी व्यापार कार्य में संलग्न थे। चारुदत्त ब्राह्मण होने पर भी सेठ बोला जाता है। उसका घर सेठों के चौक में है। कुछ लोग जाति से ब्राह्मण होने पर भी पाप कर्मों में लिप्त थे। शर्विलक नामक ब्राह्मण चोरी का कार्य करता था तथा चौर्य-कला में दक्ष था।[4] वह मदनिका जैसी वेश्या के प्रति प्रेमासक्त है और उसी के लिए चोरी भी करता है। ब्राह्मण वर्ण के लिए यज्ञोपवीत अनिवार्य था। चारुदत्त यज्ञोपवीत धारण करता है। शर्विलक ने भी यज्ञोपवीत धारण

---

1 मृच्छकटिकम् , अङ्क-1, पृ. 88

2 मृच्छकटिकम् , अङ्क-3, पृ. 189

3 "अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह।।" मृच्छ. 9-39

4 मृच्छ., अङ्क-3, पृ. 193

किया है यद्यपि उसने यज्ञोपवीत का उपहास किया है।[1] मैत्रेय अपने आप को विद्या, तप आदि से रहित नाममात्र का ब्राह्मण बताता है।[2]

मृच्छकटिकम् में क्षत्रिय वर्ण[3] का उल्लेख मात्र हुआ है, उसके कार्यों के सम्बन्ध में कोई विस्तृत सूचना नहीं मिलती है। परम्परागत रूप से उनका स्थान ब्राह्मण वर्ग के बाद है।

मृच्छकटिकम् में समाज के तृतीय वर्ण के रूप में वैश्य वर्ण था। कृषि, पशुपालन एवं व्यापार उनके कार्य थे। वैश्य वर्ण का उल्लेख अत्यन्त धनी व्यापारियों के रूप में हुआ है। उनका व्यापार विभिन्न देशों एवं नगरों में जहाजों द्वारा हुआ करता था। रेभिल[4] नामक पात्र व्यापारी एवं गायक था। नगर में सेठों की अलग बस्ती थी।

वर्णक्रमानुसार शूद्र समाज का चौथा वर्ण था। इन पर तीनों उच्च वर्णों की सेवा का भार था। इन पर अनेक अपात्रताएं थोपीं गई थीं। मृच्छकटिकम् में शूद्र वर्ण के अन्तर्गत चमार, नाई, अहीर आदि का उल्लेख आया है। वर्धमानक मैत्रेय से चारुदत्त का पैर धुलने के लिए कहता है तो मैत्रेय क्रुद्ध होकर कहता है कि यह वर्धमानक नीच जाति का होकर भी मुझ ब्राह्मण को पैर धोने के लिए कहता है।[5] शूद्र वर्ण के लिए वेद पढ़ना वर्जित था। नवम अंक में अधिकरणिक शूद्र शकार को कहता है कि तू नीच होकर भी वेदों का अर्थ कह रहा है, परन्तु तेरी जीभ नहीं गिरी। पतित जातियों से ब्राह्मण दान-दक्षिणा भी ग्रहण नहीं कर सकते थे। दशम अंक में चारुदत्त

---

[1] मृच्छ., अङ्क3, पृ. 204

[2] वही, अङ्क3, पृ. 190

[3] वही, अङ्क1/- 32

[4] वही, अङ्क3, पृ. 181

[5] वही, अङ्क3, पृ. 189

द्वारा दोनों चाण्डालों से दान मांगा जाता है तो दोनों चाण्डाल आश्चर्य से कह उठते हैं कि क्या हमारे हाथ से दान लोगे? मृच्छकटिकम् में शासक के रूप में राजा पालक एवं आर्यक का वर्णन मिलता है। ये दोनों ही शासक शूद्र वर्ण के हैं। राजा आर्यक अहीर है जो अहीरों की बस्ती का रहने वाला था।[1] वीरक एवं चन्दनक नामक पात्र जो क्रमशः नाई[2] एवं चमार[3] हैं, शूद्र वर्ण के होते हुए भी राजा के विश्वासपात्र सिपाही हैं।

समाज में शूद्र वर्ण के भी नीचे एक अन्य वर्ग चाण्डालों का था। इस वर्ग का कार्य अत्यन्त निम्न स्तर का था। अपराधियों को फांसी पर चढ़ाना भी इनका कार्य था।[4] यह वर्ग भी सामान्य लोगों से भिन्न बस्ती में रहता था।

मृच्छकटिकम् में उपर्युक्त वर्णों के अतिरिक्त एक अन्य नवीन वर्ग कायस्थों का है। समाज में कायस्थ वर्ग की स्थिति सम्मानजनक थी। एक कायस्थ धनदत्त[5] का उल्लेख प्राप्त होता है जो न्यायालय में अधिकरणिक का सहायक है एवं मुकदमे को लिखने का कार्य करता है।

यद्यपि वर्णव्यवस्था जाति एवं कर्म से दो प्रकार की मानी गयी है पर यह निश्चित है कि आरम्भ में यह व्यवस्था कर्म से प्रचलित थी। किन्तु इस समय तक जातिगत व्यवस्था दृढ़ होती गयी। इस समय तक कर्म के आधार पर कहलाने वाला ब्राह्मण समुदाय ब्राह्मण जाति के रूप में परिवर्तित हो गया। यही बात अन्य कर्मों पर आश्रित अन्य वर्णों के सम्बन्ध में भी रही। मृच्छकटिकम् के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि वर्ण या जाति तथा इनके

---

1 मृच्छ., अङ्क 7, पृ. 448

2 वही, अङ्क 6, पृ. 431

3 वही, अङ्क 6, पृ. 433

4 वही, अङ्क 10/- 1

5 वही, अङ्क 0, पृ. 581

परम्परागत कार्य अथवा व्यवसाय में जो दृढ़ता प्राचीनकाल में थी, वैसी वर्णगत व्यवसायों की दृढ़ता मृच्छकटिकम् में वर्णित समाज में दृष्टिगोचर नहीं होती। चारुदत्त यद्यपि कर्म से व्यापारी या वैश्य वर्ग का था, किन्तु ब्राह्मण जाति का होने के कारण ब्राह्मण वर्ण में ही उसकी गणना होती थी। मृच्छकटिकम् में वर्णित जाति व्यवस्था ने वैवाहिक सम्बन्धों के निर्धारण में कोई बाधा उपस्थित नहीं किया, जितना कि परवर्ती कालों में। चारुदत्त एवं शर्विलक ब्राह्मण होकर भी गणिका से विवाह सम्पन्न करते हैं। मृच्छकटिकम् में वर्णित परम्परागत चारों वर्णों में शिथिलता के भी लक्षण दिखाई देते हैं। एक स्थल पर विद्वान् ब्राह्मण तथा नीच जाति वाले मूर्ख को भी एक ही बावली में स्नान करना तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं दूसरे वर्णाधम लोगों को भी एक ही नाव से नदी पार करना वर्णित किया गया है।[1] इससे स्पष्ट होता है कि इस समय तक छूआ-छूत की भावना इतनी प्रबल नहीं थी जितनी कि परवर्ती काल में।

2. दशकुमारचरितम् में वर्णित वर्ण-व्यवस्था एवं जाति-प्रथा

दशकुमारचरितकालीन समाज वैदिक धर्म के प्रभाव में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों में विभक्त था, चारों वर्णों के लोग आर्य जनता के अंग थे, पर समाज में उनकी स्थिति एक समान नहीं थी। मनु द्वारा प्रतिस्थपित वर्ण सम्बन्धी नीतियों के आधार पर ही सामाजिक व्यवस्था प्रचलित थी। दण्डी ने राजा की प्रशंसा में यह भी बताया है कि उनको मनु द्वारा निर्दिष्ट नीतियों को कार्यान्वित करने में दक्ष होना चाहिए।[2] तत्कालीन भारतीय समाज में बौद्ध एवं जैन धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया का काल प्रारम्भ

---

1 मृच्छ., अङ्क 1/- 32

2 "मनुमार्गेण प्रणेता चातुर्वर्ण्यस्य, पुण्यश्लोकः, पुण्यवर्मा नामासीत्।"
झा, विश्वनाथ, दश. उ. 8, पृ. 239

हो गया था एवं नये परिवर्तित रूप में प्राचीन वैदिक धर्म सामाजिक जीवन के क्षेत्र में आविर्भूत हो रहा था। समाज का स्पष्ट झुकाव चार वर्णों के प्राचीन परम्परा की तरफ बढ़ रहा था। मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति में ब्राह्मणों को सब वर्णों की तुलना में श्रेष्ठ प्रतिपादित किया गया है। दशुकमारचरितम् में मनु का बार-बार उल्लेख इस बात को प्रमाणित करता है कि समाज में वर्णाश्रम-व्यवस्था के सम्बन्ध में मनु की नीतियों का व्यापक प्रचार रहा है।

दशकुमारचरितम् में ब्राह्मणों को समाज में सबसे उच्च रूप में प्रतिस्थपित किया गया है तथा उन्हें कुछ विशेष अधिकार भी दिये गये हैं। ब्राह्मण को "भूसुर"[1] "महीसुर"[2] कहकर सम्बोधित किया गया है, ब्राह्मण वर्ग को "अग्रंजन्मा"[3] कहकर उच्च स्थान दिया गया है तथा कहीं "भूदेव"[4] कहकर सम्मानित किया गया है। उस समय ब्राह्मणों द्वारा यज्ञोपवीत धारण किया जाना आवश्यक था। यज्ञोपवीत धारण भी उच्चवर्ग की निशानी माना जाता था। राजवाहन किरातरूपी ब्राह्मण मातंग से कहता है कि "कन्धे पर पड़ा हुआ जनेऊ आपके ब्राह्मण होने की पुष्टि करता है।[5] राजवर्ग ब्राह्मणों को विशेष सम्मान देते थे। राजकुल का पुरोहित अथवा राजगुरु, जो ब्राह्मण ही होता था, समाज में पूजनीय था। सामन्यतया ब्राह्मण को प्राणदण्ड नहीं दिया जाता था, जो इस वर्ग की उच्च स्थिति का परिचायक है। मातंग ब्राह्मण को पीटे जाते देख कर अपने साथियों से कहता है, "ब्राह्मण की हत्या करना

---

1. दश., पूर्वपीठिका, पृ. 4
2. वही, पूर्व. - 3, पृ. 66
3. वही, पूर्व. - 3, पृ. 66
4. वही, पूर्व. - 3, पृ. 67
5. वही, पूर्व. - 2, पृ. 52

पाप है।''[1] ऐसे ब्राह्मणों का उल्लेख प्राप्त होता है जो ज्ञानार्जन, तपस्या, मनन में सतत् जुड़े हुए थे। सम्भवतः दण्डी द्वारा वर्णित तपस्वी वामदेव, महर्षि मारीचि भी ब्राह्मण थे, जो ब्राह्मण योग्य गुणों से सम्पन्न एवं तेजस्वी थे। राजहंस का पुरोहित ब्रह्मतेजस से पूर्ण ब्राह्मण था। कुछ ब्राह्मण अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करने तथा दान लेने का ही कार्य करते थे।

इस समय तक ब्राह्मणों की प्राचीन एवं पूजनीय स्थिति में गिरावट आने लगी थी। एक तरफ तो ब्राह्मणों को समाज में आदर्श रूप में रखा गया, दूसरी तरफ उनके अपवाद भी दशकुमारचरितम् में दृष्टिगोचर होने लगे। ऐसे अनेक दृष्टान्त प्राप्त होते हैं जब ये उच्च पदस्थ ब्राह्मण वर्ग अपने आदर्शों से विमुख हो गये हैं। ऐसा ही एक दृष्टान्त मातंग नामक किरात की जीविका अपनाने वाले ब्राह्मण से प्राप्त होता है। मातंग राजवाहन से कहता है, ''इस अटवी में बहुत से कुत्सित ब्राह्मण रहते हैं। वे वेदाभ्यास, कुलाचार, सत्य, पवित्रता, धर्म, व्रत आदि सबको छोड़ चुके हैं। पाप करने में रत पुलिंद उनके स्वामी हैं। उन्हीं की ये ब्राह्मण जूठन भी खा लेते हैं। उन्हीं में से एक कुत्सित ब्राह्मण का पुत्र मैं हूँ। मेरा नाम मातंग है। मैं निन्दित चरित्र वाला हूँ। किरातों की सेना के साथ जनपदों में जाता था और बाल-बच्चों, औरतों के साथ अमीर आदमियों को पकड़ लाता था।'' [2] इस समय उन्हें भी चोरी आदि दण्डनीय अपराधों के लिए अन्य दण्डों के साथ यत्र-तत्र मृत्युदण्ड भी दिया जाने लगा था।[3] राजद्रोह आदि के मामलों में ब्राह्मण को भी अतिकठिन प्राणदण्ड दिया जाता था। अर्थपाल की कथा में आये सन्दर्भ

---

1 दश., पूर्व. - 2, पृ. 53

2 वही, पूर्वपीठिका- 2, पृ. 52

3 वही, उत्तरपीठिका- 4, पृ. 118

से उसकी पुष्टि हो जाती है।[1] इसमें संदेह नहीं कि जनता की भावना में ब्रह्महत्या महापतित कार्य था, सामान्यजन अथवा शासक इससे परहेज करते थे। दण्डी के अनुसार ब्राह्मण हत्या अतिनिन्दनीय होने पर भी सम्भव थी। विमर्दक ने धनमित्र से कहा कि मैं ब्रह्महत्या को भी कुछ नहीं गिनता।[2]

यह कहा जा सकता है कि ब्राह्मण अपने परम्परागत कार्यों के अलावा इतर कार्यों में भी व्यस्त थे। दशकुमारचरितम् की कहानियों से स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण सेना में चयन किये जाते थे तथा कृषि कार्य में भी संलग्न थे। ब्राह्मण कहीं-कहीं शिकारी की श्रेणी में नीचे आ गये थे। ब्राह्मण शौनक का कोशलराज की राजकुमारी से विवाह-सम्बन्ध तथा ब्राह्मण का गणिकाओं के साथ सम्बन्ध भी महत्त्वपूर्ण है। ब्राह्मण शासकों का अस्तित्व भी ब्राह्मणों के अपरम्परागत कार्यों का परिचायक हैं।

समाज में क्षत्रियों का स्थान ब्राह्मणों से नीचे था। इस काल में क्षत्रियों की प्रायः वही स्थिति थी, जो प्राचीन समय में थी। दण्डी द्वारा वर्णित कुमार प्रायः क्षत्रिय वर्ग एवं कुछ वैश्य वर्ग के थे। क्षत्रियों का कार्य पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना, शासन चलाना एवं लोगों की रक्षा करना माना जाता था। समाज में उनकी स्थिति सर्वसाधारण की तुलना में ऊँची समझी जाती थी। दण्डी के अनुसार बन्धु या अबन्धु सबको समान रूप से दुष्ट कर्म के लिए दण्ड देना क्षात्रधर्म है।[3] ब्राह्मणों के समान क्षत्रिय वर्ण भी अब प्रधानतया जन्म पर आधारित हो गया था। इसलिए ऐसे क्षत्रिय भी होते थे, जो वैश्यों के कार्य कर जीविका चलाते थे।

---

1 दश., उत्तरपीठिका- 4, पृ. 125

2 वही, उत्तरपीठिका- 2, पृ. 51

3 "एष खलु क्षात्रधर्मो यद्बन्धुरबन्धुर्वा दुष्टः सः निरपेक्षं निग्राह्य इति।"
वही, 4, पृ. 127

ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वर्ण के नीचे वैश्य वर्ण की सत्ता विद्यमान थी। वैश्य वर्ण के लोगों का कार्य कृषि, पशुपालन एवं व्यापार माना जाता था। वैश्यों के कार्य पढ़ना, दान देना भी थे। किन्तु विपत्तिकाल में वैश्यों को यह अधिकार भी था कि शस्त्र धारण कर आत्मरक्षा कर सकें।

वणिज या व्यापारी वर्ग अपने धन एवं वैभव के कारण उच्च प्रतिष्ठित थे। धन एवं समाज दोनों वैश्य वर्ग के पास था। निम्बवती की कथा के अन्तर्गत मित्रगुप्त कहता है कि सौराष्ट्र प्रदेश के वलभी नगर में एक कुबेर जैसे जहाजों के अत्यन्त धनी व्यापारी की रत्नवती नामक पुत्री है।[1] उसी स्थल पर एक संदर्भ में बताया गया है कि वैश्य धनी शासकों के सन्निकट थे।[2] वैश्य शब्द का प्रयोग उनकी रचनाओं में प्रायः देखने को नहीं मिलता है। दण्डी निरन्तर इस वर्ग के लोगों के लिए वनिक् अथवा आर्य सम्बोधन का प्रयोग करते थे।[3] वणिज सम्बोधन इस अर्थ में भी सुविधाजनक और सरल है कि यह अपने अन्दर ऐसे सभी वणिजों एवं व्यापारियों को सम्मिलित कर लेता है, जो वैश्य कुल में जन्म नहीं लिये हों। कुल मिलाकर दशकुमारचरितम् का वणिज वर्ग ऐसा समूह बन गया था, जिसमें व्यापार करने वाले वैश्य तथा गैर वैश्य दोनों सम्मिलित थे। ऐसे लोग जो मुख्यतः आन्तरिक एवं बाह्य व्यापार में संलग्न थे, समाज में अपनी समृद्धि एवं प्रभाव के लिए जाने जाते थे। आर्य अथवा श्रेष्ठिन् का प्रयोग मूलतः सुन्दर अर्थ में था। उनमें भी उन लोगों को समाज में सम्माननीय स्थान प्राप्त था, जिनकी समृद्धि परिलक्षित थी। राजकीय सभाओं में भी उनके प्रतिनिधित्व के

---

1 "तस्या गृहगुप्तनाम्नो गुह्यकेन्द्रतुल्यविभवस्य नाविकपतेर्दुहिता रत्नवती नाम।"
दश., उत्तरपीठिका- 6, पृ. 196

2 दश., उत्तरपीठिका- 6, पृ. 199

3 वही, 4, पृ. 81

उदाहरण दशकुमारचरितम् में देखने को मिलते हैं। इस तरह इस वर्ग के पास शासन में भागीदारी का प्रभाव था। वणिक वर्ग के लोग व्यापार के सिलसिले में दूसरे देशों की यात्रा पर जाया करते थे।[1] इनके पास समुद्री यात्रा के लिए बड़ी-बड़ी निजी जहाजों का होना इनकी समृद्धि का परिचायक है। वणिक् वर्ग व्यापार करते हुए एक शहर से दूसरे शहर एवं एक राज्य से दूसरे राज्य में घूमा करते थे। विदेशी जनपदों में इन्हें सन्देह की नजरों से देखा जाता था।

समाज में शूद्रों की स्थिति सबसे हीन थी। वे द्विज जातियों से नीचे की श्रेणी में गिने जाते थे तथा वेदाध्ययन आदि नहीं कर सकते थे। याज्ञिक कर्मकाण्ड की उन्हें अनुमति नहीं थी। तीनों वर्णों की सेवा करना ही उनका परम धर्म था। चाण्डाल, मातंग, किरात तथा शबर आदि शूद्रों की श्रेणी में परिगणित किये जा सकते हैं। दशकुमारचरितम् में यह वर्णित है कि ये चोरी, हत्या, डकैती तथा अपहरण जैसे बुरे कार्यों में लिप्त थे। एक संदर्भ के अनुसार मातंग नामक ब्राह्मण किरातों की सेना के साथ जनपदों में जाता था और बाल-बच्चों, औरतों के साथ धनी आदमियों को पकड़ लाता था और उन्हें बन्धन में रखकर उनका सारा धन छीन लेता था।[2] एक अन्य स्थल पर वनमार्ग में जाते हुए राजा प्रहारवर्मा शबरों के एक दल द्वारा लूट लिये जाते हैं।[3]

हम कह सकते हैं कि दशकुमारचरितम् में वर्णित वर्ण-व्यवस्था प्राचीन वर्ण-व्यवस्था पर आधारित रहते हुए भी स्थिर नहीं रह सकी थी। गुणों एवं कर्मों के आधार पर विभाजित समाज जातिगत व्यवस्था का आधार प्रस्तुत कर

---

1. "वाणिज्यरूपेण कालयवनदीपमुपेत्य।" -दश., पूर्वपीठिका- 4, पृ. 80
2. दश., पूर्वपीठिका- 2, पृ. 53
3. वही, 1, पृ. 29

रहा था। तत्कालीन लोग वर्णगत व्यवसायों में दृढ़ नहीं थे, सुविधानुसार अन्य विहित-अविहित कर्म अपना रहे थे। उच्च रूप में प्रतिष्ठित पृथ्वी का देवता, अग्रजन्मा ब्राह्मण समुदाय की स्थिति में गिरावट परिलक्षित हो रही थी। यद्यपि वर्ण-व्यवस्था तत्कालीन सामाजिक ढाँचे का मूल आधार थी एवं राजा या शासक का नैतिक कर्त्तव्य था कि वह लोगों को उनके वर्णगत व्यवसायों में स्थिर रखे, फिर भी यह कहना मुश्किल है कि इसका तदनुरूप पालन हो रहा था। कुमारों के चरितों से वर्ण-व्यवस्था की व्यतिक्रमता प्रकट होती है। वर्ण-व्यवस्था पर विकट रूप में आघात करने वाले अन्तर्जातीय विवाह की परम्परा प्रचलित हो चुकी थी। कुछ ऐसी जातियों का भी उल्लेख दण्डी द्वारा किया जाता है जिनको वर्ण विशेष में रखा जाना कठिन प्रतीत होता है। खानाबदोशों की तरह जिन्दगी बिताने वाले, लूटपाट करने वाले किरात, पुलिंद, मातंग आदि जातियों का उल्लेख प्राप्त होता है। चाण्डाल, जिन्हें मातंग और अन्त्यज भी कहा गया है, मूलतः जनजातियों का प्रतिनिधित्व करने वाले अनार्य माने जा सकते हैं। मनु के अनुसार वे शूद्र पिता और ब्राह्मण माता से जन्मे माने जाते हैं तथा समाज में उनकी स्थिति अत्यन्त निम्न थी।

संक्षेप में दशकुमारचरितम् काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के रूप में जो चार वर्ण समाज में विद्यमान थे, उनका आधार गुण और कर्म न होकर जन्म ही था। मनुष्य चाहे जो कर्म अपना ले, पर उसे उसी वर्ण का माना जाता था जिसमें वह उत्पन्न हुआ है।

3. विमर्श

समानता - मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् के रचना-काल में यद्यपि लगभग सौ वर्षों का अन्तर है, तथपि दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से उनके वर्ण-व्यवस्था एवं जाति प्रथा में अत्यधिक समानता दृष्टिगोचर होती है।

दोनों ग्रन्थों में वर्ण व्यवस्था पूर्णरूपेण प्रचलित थी। परम्परागत चारों वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र का अस्तित्व समाज में पूर्ववत् विद्यमान था। चारों वर्णों की सामाजिक स्थिति में भेद किया जाता था। न्याय-व्यवस्था में भी वर्णों की स्थिति के अनुसार भेद-भाव किया जाता था। चारों वर्णों ने अभिरुचि एवं गुणों को प्रमुख मानकर अपनी जाति के लिए निर्धारित कार्य नहीं किया, यहाँ तक कि विवाह भी नहीं किया। जाति प्रथा का प्रभाव दोनों ही ग्रन्थों में व्यवसाय के चुनाव में कम बाधक था। द्विज जातियों के लिए यज्ञोपवीत आवश्यक था।

दोनों ग्रन्थों में ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति चारों वर्णों में सर्वोच्च थी। ब्राह्मण वर्ण पूजित था। सामान्यतः ब्राह्मणों को प्राणदण्ड नहीं दिया जाता था। किन्तु दोनों ही ग्रन्थों में ब्राह्मणों की प्राचीन उच्च एवं पूजनीय स्थिति में गिरावट परिलक्षित होती है। मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् में क्रमशः शर्विलक एवं मातंग एवं उसके परिवार के लोग नीच कार्यों में लिप्त थे। दोनों ग्रन्थों में ब्राह्मण परम्परागत कार्यों के अलावा इतर कार्यों में व्यस्त थे। यद्यपि मनुस्मृति एवं अन्य तत्कालीन स्मृतियों में ब्राह्मणों के मृत्युदण्ड का निषेध किया गया है तथपि मृच्छकटिकम् में चारुदत्त एवं दशकुमारचरितम् में अर्थपाल, इन दोनों ब्राह्मणों को मृत्युदण्ड देने का उल्लेख हुआ है।

दोनों ग्रन्थों में क्षत्रियों का स्थान परम्परागत रूप से ब्राह्मणों के बाद द्रष्टव्य है। इस समय तक क्षत्रिय वर्ण जन्म पर आधारित हो गया था।

दोनों ही ग्रन्थों में वैश्य वर्ण का स्थान प्राचीन काल के समान तीसरे क्रम में दिखाई देता है। उनका यह क्रम उनकी सामाजिक स्थिति एवं सम्मान के सम्बन्ध में भी सही है। वैश्य वर्ण में अपने परम्परागत वर्ण का अत्यधिक प्रभाव था एवं अपने व्यावसायिक वर्ग से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। दोनों ग्रन्थों में वैश्य वर्ण का उल्लेख अत्यन्त समृद्ध वर्ण के रूप में हुआ है। वे

समुद्र में जहाजों से व्यापार करते थे। उनका व्यापार दूसरे नगरों एवं दूसरे देशों के बीच होता था। दोनों ही ग्रन्थों में व्यापार करने वाले सभी लोग वैश्य नहीं थे।

दोनों ही ग्रन्थों में वर्णित चौथे वर्ण के रूप में शूद्रों की स्थिति सबसे हीन थी। उनका स्थान द्विज जातियों से नीचे था। उनका कार्य परम्परागत तीनों उच्च वर्णों की सेवा करना एवं अत्यन्त निम्न स्तर के कार्य करना था। शूद्रों के लिए दण्ड विधान अत्यन्त कठोर था। उनकी सामाजिक स्थिति अत्यन्त हीन थी, किन्तु उनकी गणना अस्पृश्यों में नहीं की जाती थी। अस्पृश्य एक अलग वर्ग बन गया था। उनकी स्थिति शूद्रों से भी नीचे थी। उनके रहने के लिए अलग से बस्ती होती थी। उनका कार्य शूद्र जातियों से भी अत्यन्त हीन था जैसे- फांसी आदि।

विषमता- मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् इन दोनों ग्रन्थों में अत्यधिक समानता है, किन्तु रचना-काल में भिन्नता के कारण इनके वर्ण-व्यवस्था एवं जातिप्रथा में कुछ असमानता भी दृष्टिगोचर होती है।

दशकुमारचरितम् में ब्राह्मण वर्ग को विशेषाधिकार प्राप्त था। राजवर्ग द्वारा ब्राह्मणों को विशेष सम्मान प्रदान किया जाता था। ब्राह्मण वर्ण शासक वर्ग के अधिक निकट था, एवं ब्राह्मण मंत्री तक बनाये जाते थे। इसके विपरीत मृच्छकटिकम् में ब्राह्मण वर्ण का शासक वर्ग से दूरी परिलक्षित होती है। शूद्र शासक पालक द्वारा चारुदत्त नामक ब्राह्मण को भी फांसी की सजा दी जाती है। दशकुमारचरितम् में राजपुरोहित अथवा राजगुरु ब्राह्मण ही हो सकता है, किन्तु मृच्छकटिकम् में ऐसा वर्णन नहीं मिलता है। दशकुमारचरितम् में मारीच, वामदेव आदि कुछ तपस्वी एवं ब्राह्मण योग्य गुणों से सम्पन्न ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है, किन्तु मृच्छकटिकम् में चारुदत्त ब्राह्मण का गृहस्थ के रूप में ही उल्लेख मिलता है। दशकुमारचरितम्

में कुछ ब्राह्मणों का सेना में चयन हुआ है एवं कुछ कृषि कार्य में संलग्न है, इसके विपरीत मृच्छकटिकम् में ब्राह्मण चारुदत्त का उल्लेख सार्थवाह के रूप में हुआ है।

मृच्छकटिकम् में क्षत्रिय शब्द का उल्लेख द्वितीय वर्ण के रूप में हुआ है, किन्तु समाज में क्षत्रियों की भूमिका के सम्बन्ध में स्पष्ट जानकारी का अभाव है, जब कि दशकुमारचरितम् में क्षत्रिय वर्ण का उल्लेख शासक वर्ग के रूप में हुआ है। क्षत्रियों के परम्परागत कार्य जैसे शान्ति- व्यवस्था, बाह्य शत्रुओं से रक्षा एवं शासन करना इत्यादि की जानकारी इस ग्रन्थ में मिलती है। दशकुमारचरितम् में दण्डी ने क्षत्रिय शासकों को निर्देश दिया है कि राजा को मनु द्वारा निर्दिष्ट नीतियों को कार्यान्वित करने में दक्ष होना चाहिए, किन्तु मृच्छकटिकम् में क्षत्रियों के लिए शूद्रक ने ऐसा कोई निर्देश नहीं दिया है।

दशकुमारचरितम् में वैश्य वर्ण को धनी शासकों के सन्निकट माना गया है। क्षत्रियों के अतिरिक्त कुछ वैश्य भी राजकुमार के रूप में परिगणित किये गये हैं। राजकीय सभाओं में वैश्यों का प्रतिनिधित्व देखने को मिलता है, जिससे यह प्रतीत होता है कि वैश्य वर्ण का शासन में पर्याप्त भागीदारी थी। इसके विपरीत मृच्छकटिकम् में वैश्य वर्ण के कार्यों का उल्लेख केवल व्यापार-वाणिज्य के रूप में हुआ है। शासक वर्ग से उनकी पर्याप्त दूरी भी दिखाई देती है। दशकुमारचरितम् में वैश्य शब्द का प्रायः अभाव है एवं उसके लिए प्रायः वनिक् शब्द मिलता है, जब कि मृच्छकटिकम् में वैश्य वर्ण के लिए वैश्य शब्द का ही प्रयोग हुआ है।

वर्ण व्यवस्था के क्रम में चौथा वर्ण शूद्रों का है। मृच्छकटिकम् में शूद्र वर्ण के रूप में अहीर, नाई एवं चमार इत्यादि जातियों का उल्लेख हुआ है, जब कि दशकुमारचरितम् में शूद्र वर्ण के रूप में मातंग, किरात एवं शबर जैसी जातियों का उल्लेख मिलता है। मृच्छकटिकम् में शासक के रूप में

राजा पालक एवं राजा आर्यक का उल्लेख हुआ है यद्यपि दोनों ही शूद्र वर्ण के हैं, किन्तु दशकुमारचरितम् में शासक के रूप में क्षत्रियों का ही उल्लेख प्राप्त होता है। मृच्छकटिकम् में वीरक एवं चन्दनक जो क्रमशः नाई एवं चमार हैं, इनका वर्णन राजा के विश्वासपात्र सिपाही के रूप में हुआ है, किन्तु दशकुमारचरितम् में किरात, शबर आदि शूद्र जातियों का उल्लेख हत्या, लूटमार इत्यादि करने वाले व्यक्ति के रूप में हुआ है।

मृच्छकटिकम् में कायस्थ नामक एक नवीन जाति का उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु दशकुमारचरितम् में कायस्थ का कोई उल्लेख नहीं किया गया है।

मृच्छकटिकम् में द्विज जातियों जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों के साथ-ही-साथ नीच जातियों को भी एक ही बावली में स्नान करना एवं एक ही नाव से नदी पार करने का उल्लेख प्राप्त होता है। दशकुमारचरितम् में ऐसा कहीं उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। अतः स्पष्ट होता है कि मृच्छकटिकम् के समय तक छुआ-छूत की भावना शिथिल थी, किन्तु दशकुमारचरितम् के समय तक छुआ-छूत की भावना अत्यधिक प्रबल हो गई थी।

निष्कर्ष- समाज में होने वाले परिवर्तनों में राजनैतिक परिवर्तन की अपेक्षा सामाजिक परिवर्तन अत्यन्त मंद गति से होता है। समाज में होने वाले इस तरह के सामाजिक परिवर्तनों में हजार वर्ष तक लग जाते हैं। यही बात इन दोनों ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी सही प्रतीत होती है। चूँकि इन दोनों के ग्रन्थों के रचना-काल में लगभग सौ वर्षों का ही अन्तर है, अतः इन सौ वर्षों में समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं आ सका है। अतः मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् के सामाजिक-व्यवस्था में अत्यन्त समानता दृष्टिगोचर होती है। दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् में वर्णित वर्ण-व्यवस्था भी

एक समान है। किन्तु दोनों ग्रन्थों के वर्ण-व्यवस्था की तुलना करने पर दोनों ग्रन्थों में कुछ अन्तर स्पष्ट होता है। ऐसा संभवतः इसलिए है कि दशकुमारचरितम् का रचना काल सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है और यह समय भारतीय इतिहास में बौद्ध एवं जैन धर्मों के प्रति ब्राह्मण या वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया का काल है। भारत में इसी समय से वैदिक धर्म का पुनरुत्थान शुरू होता है। ऐसे में यह निश्चित ही है कि ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित मान्यताओं का समाज में पुनः प्रचलन होता। यही कारण है कि जातिबन्धनों में मृच्छकटिकम् की अपेक्षा दशकुमारचरितम् में कुछ कठोरता दिखाई देती है। ब्राह्मण वर्ण को परम्परागत सम्मान एवं विशेषाधिकार पुनः प्रदान किये जाते हैं। मनुस्मृति एवं अन्य स्मृतियों के सिद्धान्तों को समाज में पुनः मान्यता प्रदान की जाती है। इसी समय में भारतीय समाज में वर्ण एवं जाति बन्धनों में कठोरता शुरू हो जाती है। कायस्थ वर्ग का उल्लेख मृच्छकटिकम् में हुआ है किन्तु दशकुमारचरितम् में नहीं। परन्तु केवल इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि दशकुमारचरितम् के रचना-काल में यह वर्ण समाज में विद्यमान नहीं था। उस समय भी यह वर्ग समाज में विद्यमान था, जिसकी पुष्टि अन्य तत्कालीन ग्रन्थों से होती है।

कायस्थ जाति के लोग मूल रूप से राजकीय सेवा से सम्बद्ध रहे हैं। उनका सर्वप्रथम उल्लेख याज्ञवल्क्य ने 'लेखक' के रूप में किया है।[1] किन्तु उनका गुप्तकालीन अभिलेखीय प्रमाण भी मिलता है।[2] उनका प्रधान कार्य केवल लेखकीय ही नहीं होता था, बल्कि वे लेखाकरण, गणना, आय-व्यय और भूमि-कर के अधिकारी भी होते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि वे गुप्त-युग

---

1 "कायस्थगणका लेखकाश्च।" याज्ञवल्क्य, मिताक्षरा, 1.335

2 जर्नल अव यू. पी. हिस्टारिकल सोसाइटी, 1946, पृ. 81-82

तक एक वर्ग के रूप में थे जो बाद में चलकर एक जाति के अन्तर्गत आ गये।

इसप्रकार कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था कर्म पर आधारित थी, किन्तु धीरे-धीरे इसमें कठोरता आती गई एवं बाद में यह जन्म पर आधारित हो गई। मृच्छकटिकम् के रचना काल में इसमें कुछ शिथिलता के लक्षण प्रकट होते हैं, किन्तु दशकुमारचरितम् के रचना-काल तक इसमें पुनः कठोरता आ गई, जो दशकुमारचरितम् में भी दृष्टिगोचर होती है। वर्ण-व्यवस्था एवं जाति-प्रथा की कठोरता में लगातार वृद्धि होती गई एवं वर्तमान काल में भारतीय समाज में इस व्यवस्था ने भयावह रूप धारण कर लिया है। आज समाज के प्रत्येक क्षेत्र में इस कु-प्रथा का विभत्स रूप देखने को मिलता है। इस प्रथा ने समाज को कई भागों में विभाजित कर रखा है जिसका परिणाम प्रत्येक व्यक्ति भुगत रहा है।

(ख) 1. मृच्छकटिकम् में वर्णित आश्रम-व्यवस्था

प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन में चार वर्णों के समान चार आश्रमों का भी बहुत महत्त्व था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास ये चार आश्रम माने जाते थे।[1] कहा जा सकता है कि आश्रम-व्यवस्था मनुष्य जीवन का वह सुनियोजित कार्यक्रम है जो उसके जीवन को चार भागों में इस प्रकार विभाजित करता है कि पहले वह शुद्ध मन से ज्ञान की प्राप्ति करें, संसार की भौतिकता का आनन्द ले तथा पितरों के ऋण से मुक्त हो। इसके पश्चात् सांसारिक माया-मोह से अपने को दूर रखकर ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करे तथा

---

1 विद्यालंकार, सत्यकेतु, प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन, पृ. 191

अन्त में परम सत्य की खोज में ईश्वर से एकाकार कर लें। अतः जीवन के अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य को धीरे-धीरे तैयार करने का सुव्यवस्थित कार्यक्रम ही आश्रम-व्यवस्था है।

"आश्रम" शब्द संस्कृत की श्रम धातु से बना है जिसका तात्पर्य है- प्रयास करना अथवा परिश्रम करना। एक विद्वान् के अनुसार आश्रम का अर्थ जीवन का वह विभाग है जिसमें मनुष्य प्रयास करता है। साहित्यिक दृष्टिकोण से आश्रम शब्द विश्राम स्थल या पड़ाव को इंगित करता है, यह वह स्थिति है जिसमें मनुष्य कुछ देर के लिए ठहर जाता है तथा अपने आप को आगामी यात्रा के लिए तैयार करता है। महाभारत में व्यास जी ने कहा है कि जीवन के चार विश्राम स्थलों या आश्रमों को चार सरणियों वाली एक सीढ़ी समझना चाहिए। यह सीढ़ी ब्रह्म के पास पहुँचने के लिए है, व्यक्ति उस सीढ़ी के द्वारा मुक्ति को प्राप्त करता है।

मृच्छकटिकम् के अनुशीलन से उस चार स्तरीय आश्रम-व्यवस्था का स्पष्ट विवरण उपलब्ध नहीं होता है। फिर भी इतना स्पष्ट है कि मृच्छकटिकम् काल में आश्रम-व्यवस्था का महत्त्व प्रतिपादित था एवम् अपरोक्ष रूप से इस आश्रम-व्यवस्था पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है।

मृच्छकटिकम् में मुख्यतः गृहस्थाश्रम का ही उल्लेख प्राप्त होता है। इसमें गृहस्थाश्रम के विभिन्न कर्त्तव्यों का स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है। चारुदत्त अपने मित्र मैत्रेय से कहता है कि गृहस्थाश्रम में रहने वाले व्यक्तियों का देवों की पूजा करना नित्य-कर्म है।[1]

---

[1] त्रिपाठी रमाशङ्कर, मृच्छकटिकम्, अङ्क 1, पृ. 40

चारुदत्त गृहस्थाश्रम के आवश्यक कर्म सन्ध्या समाप्त करने के लिए कहता है।[1] एक स्थान पर वह जप कर चुकने के बाद मातृ-देवियों को पूजा चढ़ाने के लिए कहता है। गृहस्थ स्त्रियों के लिए भी व्रत का उल्लेख है। चारुदत्त की पत्नी धूता ने 'रत्नषष्ठी' व्रत किया था, जिसमें अपने धन के अनुसार ब्राह्मण को दान देने की बात कही गई है।[2]

मृच्छकटिकम् प्रकरण में गृहस्थ आश्रम के अतिरिक्त अन्य किसी भी आश्रम का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। संवाहक नामक बौद्ध सन्यासी का उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है जो पूर्व में एक जुआरी था,[3] किन्तु यह बौद्ध सन्यासी चारों आश्रमों में अन्तिम आश्रम सन्यास के बारे में अन्य कुछ भी सूचना नहीं दे पाता है।

इस प्रकार मृच्छकटिकम् में वर्णित समाज-व्यवस्था के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इस ग्रन्थ में केवल गृहस्थाश्रम-व्यवस्था का ही उल्लेख किया गया है, जब कि तत्कालीन अन्य ग्रन्थों से हमें यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय के समाज में चारों आश्रम की व्यवस्था यथेष्ट रूप में विद्यमान थी।

2. दशकुमारचरितम् में वर्णित आश्रम-व्यवस्था

दशकुमारचरितम् के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि इस ग्रन्थ में महाकवि दण्डी ने वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रम के बीच किसी स्पष्ट सीमा रेखा का निरूपण नहीं किया है।[4] संभवतः प्रारम्भ में केवल तीन ही आश्रम

---

1 त्रिपाठी, रमाशङ्कर, मृच्छकटिकम् अङ्क 1, पृ. 41

2 वही, अङ्क 3, पृ. 228

3 वही, अङ्क 2, पृ. 172

4 गुप्ता, डी. के.; सोसाइटी एण्ड कल्चर इन दि टाइम ऑफ दण्डिन्, पृ. 227

थे, आश्रम के चार विभागों का विकास बाद में हुआ है। पहले वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रमों को एक साथ मिलाकर एक आश्रम माना जाता था, क्योंकि सन्यास आश्रम में व्यक्ति को जो कुछ करना होता है, उसी की तैयारी वह वानप्रस्थ आश्रम में करता है। व्यक्ति उसमें त्याग, तपस्या तथा ध्यान का जो जीवन बिताता है वह एक अर्थ में सन्यासी के जीवन के ही अनुरूप है। इसीलिए इन दोनों में कोई भेद करना उचित न समझा गया हो।

ब्रह्मचर्याश्रम जीवन के प्रथम स्तर का द्योतक है, सामान्यतया इसकी आयु प्रथम पच्चीस वर्ष है। सम्भवतः दशकुमारचरितम्काल में पच्चीस वर्ष की आयु सीमा अनिवार्य नहीं थी। सभी कुमार पच्चीस वर्ष की आयु के पूर्व ही अध्ययन समाप्त कर लौट आते हैं। इसका आरम्भ उपनयन संस्कार के बाद होता है। गुरुकुल में रहने का अधिकारी वह तभी होता है जब गुरु द्वारा उसका दीक्षा संस्कार कर दिया जाता है। यह स्पष्ट होता है कि दशकुमारचरितकाल में ब्रह्मचर्याश्रम की पच्चीस वर्ष की आयु में शिथिलता आने लगी थी। गुरुकुल या गुरु के आश्रम में ब्रह्मचारी को अत्यन्त सरल, पवित्र तथा सदाचार का जीवन व्यतीत करना पड़ता है और एकाग्र मन से ज्ञानार्जन में संलग्न रहता पड़ता है। इस अवस्था में ब्रह्मचारी अपने धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करके अपने को ऋषि-ऋण से मुक्त करता है और अपनी परम्परा और संस्कृति के विषय में ज्ञान प्राप्त करता है। मनु का कथन है कि द्विज अपनी आयु के प्रथम चतुर्थांश भाग में गुरुकुल (ब्रह्मचर्याश्रम) में रहकर द्वितीय चतुर्थांश भाग में गृहस्थाश्रम में रहे।[1] गुरुकुल में सभी ब्रह्मचारियों को चाहे उनकी आर्थिक, सामाजिक स्थिति कुछ भी हो समान सादगी तथा सेवा का जीवनयापन करना पड़ता था।

---

[1] मनु., 4.1, पृ. 174

ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर अध्ययन समाप्त कर लेने के बाद व्यक्ति घर वापस लौटकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। दशकुमारचरितम् में राजवाहन सहित सभी कुमार आचार्यों से पढ़ते हुए पूर्ण युवक हो जाने पर गृहस्थाश्रम में आकर दिग्विजय के लिए प्रस्थान करते हैं तथा देश-देशान्तरों में घूमते हुए विवाह करके लौकिक सुखों का उपभोग करते हैं। व्यक्ति का अध्ययन के बाद विवाह आदि करके घर बसा लेना ही गृहस्थाश्रम का स्तर होता है। शक्तिकुमार के सन्दर्भ से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है।[1] यह आश्रम जीवन का एक महत्त्वपूर्ण आश्रम है, क्योंकि इसी आश्रम में रहकर व्यक्ति जीवन के अनेक ऋणें को चुकाने का उद्योग करता है। वास्तव में जिन पाँच यज्ञों को करना मनुष्य के कर्त्तव्यों में शामिल है, उनमें से पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ चार यज्ञों का पालन गृहस्थाश्रम में किया जाता है। इसी आश्रम में प्रवेश कर व्यक्ति विवाह करके पुत्र-पुत्रियों को जन्म देता है और पितरों के वंश की निरन्तरता को बनाये रखता है तथा पितरों को पिण्डदान देने आदि का कार्य सम्पन्न करता है और इस प्रकार पितृऋण से मुक्त होता है। अपनी पत्नी के साथ यज्ञ तथा बलि आदि में भाग लेकर देवऋण से मुक्त होने का प्रयास करता है। मनु के अनुसार जिस प्रकार वायु का आश्रय लेकर सब जन्तु जीते हैं उसी प्रकार गृहस्थ के आधार पर ही सब मनुष्य जीवित रहते हैं, क्योंकि सभी लोग अन्न आदि के लिए गृहस्थों पर ही निर्भर रहते हैं। इसीलिए गृहस्थ आश्रम श्रेष्ठ माना जाता है। "वायुपुराण"[2] में गृहस्थ में व्यक्ति के कार्यों का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि व्यक्ति अनुकूल, गुण कर्म तथा स्वभाव वाली स्त्री के साथ यज्ञ करे, अतिथि सेवा करे, ऋषियों तथा पितरों की पूजा करे तथा सन्तान उत्पन्न करके परिवार तथा समाज की

---

[1] दश., उ. 6, पृ. 199

[2] मनु., 3.77-78, पृ. 119

निरन्तरता को बनाये रखने में योगदान करे। गृहस्थाश्रम में रहते हुए पुरुष अपनी पत्नी के साथ सम्भोग करता है, बच्चों का लालन-पालन करता है, अर्थ उपार्जन करता है, उत्पादन कार्य में भाग लेता है और समाज के प्रति अपने अन्य कर्त्तव्यों का पालन करता है। स्पष्ट हो जाता है कि गृहस्थाश्रम मानव जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

युवावस्था व्यतीत हो जाने पर तथा प्रौढ़ावस्था में पहुँचकर व्यक्ति वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करता है। सामान्यतया उस समय व्यक्ति की काया शिथिल पड़ने लगती थी, पुत्र के पुत्र हो जाते थे तब विषयों से रहित होकर वन का एकान्त आश्रम लेता था। दशकुमारचरितम् में ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि व्यक्ति शरीर से अशक्त होने पर तप आदि करने निर्जन जगहों में चले जाते हैं। महर्षि वामदेव कहते हैं कि ये (राजहंस) आपके पिताजी अपनी अवस्था के अनुरूप मार्ग पर चलने वाले हैं। शरीर-कष्ट के बिना ही मेरे आश्रम में रहकर वानप्रस्थाश्रम का आश्रयण करना चाहते हैं।[1] स्पष्ट हो जाता है कि प्रौढ़ावस्था में पहुँचकर व्यक्ति द्वारा जप-तप करते हुए एकाकी जीवन बिताना श्रेयस्कर माना जाता था। गृहस्थाश्रम पालन करने के पश्चात् पचास वर्ष की आयु तक व्यक्ति वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश कर सकता था। वास्तव में वानप्रस्थाश्रम में ही व्यक्ति इहलोक की सब इच्छाओं, कामनाओं तथा लोभ से अपने को विमुक्त करने, परलोक सुधार हेतु तथा मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रथम चरण की तैयारी करते हुए संयमी जीवन बिताना प्रारम्भ कर देता है। अर्थ तथा काम की इच्छा की पूर्ति के उपरान्त गृह को त्यागकर वनों तथा पर्वतों की शरण में जाकर किसी कुटिया में अकेले अथवा अपनी स्त्री के

---

[1] "अयं युष्मज्जनक एतद्वयः समुचिते पथि वर्तमानः कायक्लेशं विनैव मदाश्रमस्थो वानप्रस्थाश्रमाश्रयणं सर्वथा भवद्भिर्न निवारणीयः।"
दश., उ. 8, पृ. 297

साथ साधारण जीवन व्यतीत करना तथा धार्मिक विषयों का अध्ययन तथा मनन करना वानप्रस्थाश्रमी का कर्त्तव्य होता है। मनुस्मृति में इस बात का निर्देश है कि मनुष्य जब यह देखे कि उसके शरीर की त्वचा शिथिल हो गयी है, बाल पक गये हैं, पौत्र हो गये हैं तब वह विषयों से रहित होकर वन का आश्रय ले।[1] वहीं पर व्यक्ति अपने को मोक्ष प्राप्ति के लिए तैयार कर सकता है।

दशकुमारचरितम् में वानप्रस्थ तथा सन्यास इन दो स्तरों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। सामान्यतया वानप्रस्थ तथा सन्यास को एक ही स्तर पर रखा गया है। कुछ ऐसे तपस्वियों का उल्लेख अवश्य मिलता है जो बिना उम्र के बन्धन के तप नियम में रहते हुए निर्जन जगहों में निवास करते थे। महर्षि मरीचि तथा तपस्वी वामदेव ऐसे ही व्यक्तियों की सूची में आ जाते हैं, जो बिना गृहस्थाश्रम में आये ही नियमपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं तथा आध्यात्मिक विषयों की पराकाष्ठा पर पहुँच जाते हैं।[2] इसप्रकार त्यागपूर्ण कर्म तथा ईश्वरचिन्तन में लीन व्यक्ति सांसारिक बन्धनों की सीमा से ऊपर उठकर मोक्ष प्राप्त करते हैं जो सुनियोजित आश्रम व्यवस्था का चरम लक्ष्य है। यह कहा जा सकता है कि धर्म, अर्थ एवं काम का सुनियोजित क्रियान्वयन तत्कालीन आश्रम-व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण लक्ष्य था।

3. विमर्श

समानता - मृच्छकटिकम् प्रकरण में मुख्यतः गृहस्थाश्रम-व्यवस्था का वर्णन मिलता है, इसके विपरीत दशकुमारचरितम् में अन्य आश्रमों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से कुछ समानताएं

---

1 मनु., 6.2, पृ. 282

2 दश., उ. 8, पृ. 261

दृष्टिगोचर होती है। दोनों ही ग्रन्थों में यह आश्रम ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समझा गया है, क्योंकि समाज के अन्य लोग अपने उदर-निर्वाह के लिए गृहस्थ पर ही अवलम्बित रहते हैं, इसीलिए इसे अन्य आश्रमों का आधार-स्तम्भ कहा गया है।

दोनों ही ग्रन्थों में गृहस्थाश्रम में रहते हुए पुरुष अपनी पत्नी के साथ सम्भोग करता है, बच्चों का लालन-पालन करता है और समाज के प्रति अपने अन्य कर्त्तव्यों का पालन करता है।

पितृ-ऋण से मुक्त होने के लिए उत्तम सन्तान पैदा करनी पड़ती है। मृच्छकटिकम् में ब्राह्मण चारुदत्त को रोहसेन नामक पुत्र है। दशकुमारचरितम् में भी राजा राजहंस को राजहंस एवं अन्य मंत्रियों के भी पुत्र हैं जो विभिन्न वर्णों के हैं।

व्यक्ति गृहस्थाश्रम में ही अपनी पत्नी के साथ यज्ञ तथा बलि आदि में भाग लेकर देव ऋण से मुक्त होने का प्रयास करता है।

विषमता - मृच्छकटिकम् में केवल गृहस्थाश्रम का वर्णन हुआ है, इसके विपरीत दशकुमारचरितम् में गृहस्थाश्रम का प्रधान रूप में वर्णन होने के साथ ही साथ अन्य आश्रमों का भी वर्णन प्राप्त होता है।

गृहस्थ के रूप में मृच्छकटिकम् में केवल चारुदत्त का वर्णन मिलता है तथा वह ब्राह्मण वर्ण का है, किन्तु दशकुमारचरितम् में राजहंस के साथ-साथ अन्य लोगों का भी गृहस्थ के रूप में वर्णन प्राप्त होता है जो विभिन्न वर्णों के हैं।

मृच्छकटिकम् में गृहस्थ के रूप में बिल्कुल सामान्य पात्र निर्धन वर्गीय चारुदत्त का वर्णन मिलता है, इसके विपरीत दशकुमारचरितम् के गृहस्थ शासक के रूप में प्रदर्शित किये गये हैं।

मृच्छकटिकम् में चारुदत्त नामक गृहस्थ अपने आने वाले अन्य आश्रमों की कोई तैयारी नहीं करता, जब कि दशकुमारचरितम् में गृहस्थों को वानप्रस्थ एवं सन्यास की तैयारी करते हुए दिखाया गया है।

निष्कर्ष - दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि जहाँ मृच्छकटिकम् में केवल गृहस्थ आश्रम का वर्णन है, वहीं दशकुमारचरितम् में सभी आश्रमों का वर्णन है। इसका कारण यह नहीं है कि मृच्छकटिकम् के रचना काल में चारों आश्रमों का अस्तित्व ही नहीं था, अपितु इसका कारण है कि कवि ने मृच्छकटिकम् की रचना करते समय आश्रम-व्यवस्था का उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा। इसमें गृहस्थाश्रम का उल्लेख भी प्रसंगवश ही आया है। अतः दोनों ग्रन्थों के रचना काल में चारों आश्रमों का अस्तित्व विद्यमान था, किन्तु यह संभव है कि चारों आश्रमों के लिए निर्धारित समय में कुछ परिवर्तन हो गया हो।

आश्रम व्यवस्था पर यदि आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि वह उदार वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर अवलम्बित थी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को आत्म विकास का पूरा-पूरा अवसर मिलता था। मनुष्य के मन, बुद्धि, आत्मा आदि के सम्यक् अध्ययन द्वारा उसके परम हित को ध्यान में रखकर समाज-शास्त्र के सहारे इस व्यवस्था को विकसित किया गया था। इसीलिए यह देश-काल आदि से परिसीमित नहीं हो सकती। यह तो सब देश व सब काल के लिए है, जिसका क्रियात्मक उदाहरण प्राचीन भारत ने विश्व के सामने उपस्थित कर दिया है।

चतुर्थ अध्याय

चतुर्थ अध्याय

(क) 1. मृच्छकटिकम् में वर्णित स्त्री-वर्ग की दशा

जिस प्रकार प्रकृति के बिना पुरुष का कार्य अपूर्ण ही रहता है, उसी प्रकार स्त्री के बिना मनुष्य का जीवन भी अपूर्ण ही है। मृच्छकटिकम् प्रकरण के अध्ययन से यह बात स्पष्ट होती है कि उस समय भारतीय सामाजिक-व्यवस्था में स्त्रियों का स्थान महत्त्वपूर्ण था। हिन्दू समाज में उनका सम्मान और आदर आदर्शात्मक और मर्यादायुक्त था। उनकी अवस्था पुरुषों के सदृश थी। वे अपना मनोनुकूल आत्मविकास और उत्थान कर सकती थीं। उन्हें विवाह, शिक्षा, सम्पत्ति आदि में अधिकार प्राप्त थे। कन्या के रूप में, पत्नी के रूप में तथा माँ के रूप में वे हिन्दू परिवार और समाज में आदृत थीं। उनके प्रति समाज की स्वाभाविक निष्ठा और श्रद्धा थी। परिवार और समुदाय में उनके द्वारा कन्या, पत्नी, वधू और मां के रूप में किये जाने वाला योगदान का महत्त्व और गौरव था।

मृच्छकटिकम्कालीन समाज में नारी के प्रति दृष्टिकोण सम्मान का ही समझा जाएगा। वैवाहिक सम्बन्धों में जाति का कोई प्रतिबंध नहीं दिखाई पड़ता। नारियाँ प्रायः पतिव्रता होती थीं। शर्विलक एवं वसंतसेना के कथनों से यह आभास होता है कि समाज में सभी गृहणियाँ धूता जैसी पतिवत्रता नहीं होती थीं, अपितु कुछ ऐसी भी होती थीं जो अपने दुर्बल पतियों को छोड़कर चली जाती थी। वसन्तसेना ने विट से एक रूपक द्वारा इसको व्यक्त किया है।[1] शर्विलक ने स्त्रियों की तीव्र निन्दा की है जिसमें मनु द्वारा की गई

---

[1] "ज्योत्स्ना दुर्बलभर्तृकेव वनिता प्रोत्सार्य मेघैर्हृता।" मृच्छकटिकम्, 5/20

नारी निन्दा की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है।[1] पुरुष विवाह के अतिरिक्त भी यौन सम्बन्ध रखते थे। बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी, इसकी पुष्टि चारुदत्त की दो पत्नियों धूता एवं वसंतसेना के विवरण से हो जाती है। चारुदत्त तथा शर्विलक ने 'प्रेम-विवाह' किया है, किन्तु सामान्य रीति के वैध एवं धार्मिक विवाह भी होते थे जो 'वैवाहिक अग्नि' के उल्लेख से तथा वर की सजावट एवं विवाह के समय के बाजों की ध्वनियों के उल्लेख से प्रकट होता है।[2] 'प्रतिलोम' विवाह का कोई उल्लेख मृच्छकटिकम् में उपलब्ध नहीं है।

नारियों के दो श्रेणियाँ थीं, यथा 'प्रकाशनारी' अथवा गणिका और 'अप्रकाशनारी' अथवा वधू या कुलवधू।[3] वेश्याएं धन से किसी के द्वारा भी उपभोग की वस्तुएँ बना ली जाती थीं। यदि वे अपनी निष्ठा के कारण किसी नागरिक से विवाहित हो जाती थीं, तो उन्हें 'कुलवधू' का गौरव प्राप्त हो जाता था। वसन्तसेना को नये राजा आर्यक ने 'कुलवधू' की उपाधि प्रदान की।[4] इससे जान पड़ता है कि राजा किसी वेश्या को उसके पवित्र आचरण तथा अभ्यास की स्वीकृति में 'वधू' की पदवी प्रदान कर सकता था और तब, गणिका होने का उसका कलंक प्रक्षालित हुआ मान लिया जाता था। वसंतसेना मदनिका को दासत्व से मुक्त कर उसे शर्विलक को समर्पित कर देती है तब शर्विलक मदनिका से वसन्तसेना को प्रणाम करने के लिए कहता है।[5]

---

1 मृच्छकटिकम् , 4/12-17

2 वही, 10/44

3 वही, 3/7

4 मृच्छकटिकम्, पृ. 139

5 वही, 4/24

इस समय पर्दा की प्रथा का भी आभास मिलता है। राजा आर्यक द्वारा वसन्तसेना को 'वधू' शब्द से अलङ्कृत करते ही वसन्तसेना ने अपना मुँह ढक दिया था।[1] पर्दा-प्रथा में कुछ शिथिलता दृष्टिगोचर होती है क्योंकि धूता बिना परदे के ही सबसे सामने आती है।

'कुलवधू' अन्तःपुर में निवास करती थी और घर से बाहर निकलने पर मुँह पर घूँघट कर लेती थी। उसका अपना 'स्त्रीधन' होता था, जिसे वह आपत्तिकाल में प्रयोग में ला सकती थी। धूता अपने माता के घर से मिली रत्नों की एक माला को आपत्तिकाल में ही अपने पति चारुदत्त को देती है तथा चारुदत्त उसे वसंतसेना को देने के लिए मैत्रेय को भेजता है।[2] अपना स्त्रीधन होते हुए भी कुलवधू आर्थिक दृष्टि से पति की आश्रित रहती थी।

समाज में सतीप्रथा प्रचलित थी। विधवा के लिए एक विकल्प था, अपने पति के साथ चिता में जल मरना। 'सती' का शाब्दिक अर्थ 'अमर' अथवा 'सत्य' पर स्थिर रहने वाली है जो पति-पत्नी का अटूट और अविच्छेद्य सम्बन्ध भी व्यक्त करता है। पति ही उसके लिए आभूषण होता था और उसकी मृत्यु पर वह आग में जलकर सती बन जाना पसंद करती थी। धूता चारुदत्त के मृत्युदण्ड का समाचार सुनने मात्र से सती होना चाहती है।[3] ऐसी नारी का सामाजिक दृष्टि से बड़ा महत्त्व था, इसी कारण, 'प्रकाशनारी' भी स्वतंत्र जीवन का वैभव-विलास त्याग कर, 'कुलवधू' बनने के लिए लालायित रहती थी।

तीसरी श्रेणी नारियों की एक और होती थी। वे 'भुजिस्या' कहलाती थीं। वे दासियाँ होती थीं और अपने स्वामी अथवा स्वामिनी की सेवा करती

---

1. डा. त्रिपाठी, रमाशंकर, मृच्छ., अङ्क- 10, पृ. 739
2. मृच्छ., पृ. 227
3. वही, पृ. 730

थी। उनकी श्रेणी निम्नतम मानी जाती थी और वे अपनी मुक्ति का मूल्य चुकाकर, स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकती थीं। मदनिका ऐसी ही युवति थी जिसे वसंतसेना ने मुक्त कर दिया और ब्राह्मण शर्विलक ने अपनी 'वधू' बना लिया।

2. दशकुमारचरितम् में वर्णित स्त्री-वर्ग की दशा

दशकुमारचरितम्कालीन समाज में स्त्रियों की दशा पिछले युगों की अपेक्षा गिरी हुई प्रतीत होती है। सामान्यतया स्त्रियों के लिए उच्च शिक्षा का द्वार अवरुद्ध हो गया था। कन्याओं का उपनयन संस्कार एवं वैदिक शिक्षा लगभग बन्द हो गयी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में सिद्धान्त रूप में नारी को उच्च स्थान तो प्राप्त था लेकिन व्यवहार में अल्प ही हो गया था। उच्च परिवारों में कन्याओं को साहित्यिक एवं सांस्कृतिक शिक्षा दी जाती थी। दशकुमारचरितम् में वर्णित रानी अवंतिसुन्दरी, कल्पसुन्दरी तथा कन्दुकावती कला एवं शिक्षा में अच्छी तरफ प्रवीण थीं।

नारी को स्वामिनी बनकर गृहिणी पद के महान भार को वहन करना पड़ता था। समाज में नारी की प्राथमिक एवं अनिवार्य कर्मभूमि गृह एवं परिवार ही था।[1] ग्रन्थ में प्रयुक्त गृहिणी तथा कुटुम्बिनी शब्दों से भी यही व्यञ्जित होता है कि नारी का कार्यक्षेत्र विस्तृत होने की अपेक्षा प्रायः गृह एवं परिवार तक ही सीमित था। नारी गृह की स्वामिनी एवं प्रवर्तिका होती थी, वह गृह की आन्तरिक-व्यवस्था का सुचारु निरीक्षण एवं सर्वेक्षण करती थी। गृहिणी पद अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण था। गृहिणी उस कुल के लिए लक्ष्मी का अवतार समझी जाती थी, लेकिन उसका प्राचीन दैवी पद समाप्तप्राय था।

---

[1] शर्मा, चित्रा; संस्कृत नाटकों में समाज चित्रण, पृ. 173

पतिव्रता महिलाएँ समाज में अनेक तरह से सम्मान पाती थीं।[1] वे अपने राजा से इनाम तथा उपहार भी इसी गुणवत्ता के लिए पाती थी। दशकुमारचरितम् में 'पतिव्रतपताका' का महत्त्वपूर्ण उल्लेख आता है, जिसे महिलाओं को अपने पति के प्रति अतुलनीय समर्पण के लिए एक विशेष सम्मान चिन्ह दिया जाता था, जिसे स्त्रियाँ अपने सिर के ऊपर पहनती थीं। अन्य समय के पतिव्रता नारियों की तरह सातवीं शताब्दी में भी ऐसी गुणवान महिलाओं को असाधारण शक्ति सम्पन्न समझा जाता था।

गृहिणी के रूप में महिलाओं से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे घर के मितव्ययी रख-रखाव में निपुण हों। घर के मितव्ययितापूर्ण एवं सुरूचिपूर्ण रख-रखाव के लिए उनकी समाज में प्रशंसा की जाती थी। मितव्ययिता का यह विधान गोमिनी की कहानी में पूर्णरूप से प्रतिबिम्बित होता है।[2] गोमिनी के इस विवरण से हमें गृहिणी के दो आवश्यक गुणों मितव्ययिता तथा पाक-कला का यथेष्ठ ज्ञान हो जाता है। दण्डी ने गुणमय नारी को गृहस्थ का सबसे हितकारी गुण बताया है।[3]

सिद्धान्त रूप में कुल-वधू के लिए पति ही आभरण एवं मण्डन था। उसे सदा अपने स्वामी के कष्टों एवं दुःखों की चिन्ता रहती थी। इस तरह की चिन्ता रानी वसुमती अपने पति राजहंस के लिए करती हुई व्याकुल होती है। पत्नी का दायित्त्व था कि वह पति की आज्ञा का अनुपालन करे चाहे वह दुष्ट अथवा अशिष्ट क्यों न हो।[4] नारी अपने पति से स्वामी तथा ईश्वर की

---

1 तं च विकलं स्कन्धेनोदुह्य देशादेशान्तरं परिभ्रमन्ती पतिव्रताप्रतीतिं लेभे, बहुविधाश्च पूजाः। झा विश्वनाथ, दशकुमारचरितम् उ. 6, पृ. 185

2 झा विश्वनाथ, दशकुमारचरितम् , उ. 6, पृ. 191

3 वही, पृ. 196

4 "स्त्रीधर्मश्चैष यद्दुष्टस्य दुष्टस्य वा भर्तुर्गतिर्गन्तव्येति।" दश., उ. 4, पृ. 127

तरह व्यवहार करती थी।[1] दण्डी ने पति की विरक्ति और घृणा को कुलीन स्त्रियों की जीवित मौत बताया है। संक्षेप में पत्नी घर की स्वामिनी, गृह कार्यों में सचिव, एकान्त में सखी मानी जाती थी।

व्यावहारिक जीवन में सभी स्त्रियाँ आदर्श पत्नी की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं, जब कि उपर्युक्त चित्रण में एक आदर्श पत्नी के स्वरूप की कल्पना की गयी है। दैनिक जीवन में साधारण नारी से इतने त्याग और विविध सद्गुणों की अपेक्षा नहीं की जा सकती। दण्डी ने नारी के एक वीभत्स रूप का भी दर्शन कराया है, जब वह मित्रगुप्त की कथा में स्त्री हृदय को दुनिया में सबसे क्रूर अथवा निष्ठुर बताता है।[2] इसे धूमिनी की कथा के माध्यम से प्रमाणित करता है, जो अपने शिष्ट एवं सज्जन पति को कुएं में धकेल देती है तथा एक कुरुप व्यक्ति के साथ भाग जाती है। दण्डी ने एक स्थल पर स्त्रियों को छल तथा क्रूरता का स्रोत बताया है।[3] दशकुमारचरितम् में नारी के दो विभिन्न रूपों उच्चतम एवं निम्नतम का सुन्दर निरूपण परिलक्षित होता है।

दशकुमारचरितम्काल में गृहिणी एवं पत्नी के अतिरिक्त नारी का प्रेयसी रूप भी प्रचुरता में उपलब्ध होता है। दशकुमारचरितम् में प्रायः सभी कुमार देशाटन में अपने लिए प्रेयसी के दर्शन कर अनुराग हो जाने पर पत्नी बनाने की इच्छा रखते है, जिनमें प्रायः सभी अपने मनवाञ्छित प्रेयसी से विवाह कर लेते हैं, ऐसे अवसरों पर माता-पिता द्वारा व्यवस्थित विवाह के हमें कम ही उद्धरण उपलब्ध होते है। दण्डी ने बन्धन विहीन पिया मिलन की आतुर प्रेयसी का सुन्दर चित्रण किया है। यह अलग बात है कि नारी के

---

1 "पतिं च दैवतमिव मुक्तन्द्रा पर्यचरत्।" दश. उ. 6, पृ. 195

2 "किं क्रूरं स्त्री हृदयं किं गृहिणः।" दश. उ. 6, पृ. 182

3 "स्त्रियश्चोपधीनामुद्भवक्षेत्रम्।" दश., उ. 3, पृ. 82

लिए स्वेच्छाचारिता समाज में सिद्धान्ततः निन्दनीय था। पतिव्रत की महिमा थी, परन्तु कन्याएँ छिपकर प्रेमियों से चैन से सम्भोग कराने में बुराई नहीं समझती थीं।[1]

समाज में पर्दा प्रथा के प्रचलन को कानूनी मान्यता नहीं प्राप्त थी यद्यपि राजपरिवारों एवं उच्च घरानों की महिलाएं साधारणतया अपने को जनता के सामने प्रकट नहीं करती थीं। राजप्रासाद में अन्तःपुर का अस्तित्व एवं वहाँ अन्य पुरुषों एवं पुरुष रक्षकों का निषेध इस बात की पुष्टि करता है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि साधारण जन में पर्दा प्रथा का प्रचलन नहीं था।

सम्भ्रान्त और धनवान प्रायः सदा ही बहुपत्नीक हुआ करते थे। बहुविवाह की प्रथा का समाज में प्रचलन था, यहाँ यह भी महत्त्वपूर्ण है कि बहुपति विवाह तत्कालीन समाज में दृष्टिगोचर नहीं होते, सिर्फ बहुपत्नी-विवाह ही बहुविवाह प्रथा में सम्मिलित किये गये थे। एक पति द्वारा त्याग दिये जाने पर स्त्रियों का पुनर्विवाह सम्भव था। दशकुमारचरितम् में मित्रगुप्त की कथा में नितम्बवती नामक स्त्री के अपने पति द्वारा त्याग दिये जाने पर कलहकण्टक नामक व्यक्ति से पुनर्विवाह करने का दृष्टान्त प्राप्त होता है।[2] पूर्णभद्र की कान्तीमती एवं तारावली नामक दो पत्नियाँ है।[3] विकटवर्मा के महल में भी उसकी कई रानियों का प्रसंग हमें प्राप्त होता है। अपहारवर्मा रागमञ्जरी तथा राजकन्या अम्बालिका दोनों के साथ विवाह करके पत्नी के रूप में ग्रहण करता है, ये दृष्टान्त बहुविवाह की प्रथा का पर्याप्त समर्थन करते हैं।

---

1 राघव, रांगेय, दश., भूमिका, पृ. 11

2 दश. उ. 6, पृ. 201

3 दश. उ. 4, पृ. 120

दशकुमारचरितम् में सती प्रथा के अस्तित्व के प्रमाण उपलब्ध होते हैं किन्तु इस प्रथा का कठोरता से पालन नहीं किया जाता था, विधवा सती होने के लिए बाध्य नहीं थी। दण्डी का कथन है कि पति योग्य हो अथवा अयोग्य, स्त्री को मृत्योपरान्त उसी गति का अनुकरण करना चाहिए।[1] दशकुमारचरितम् में हमें अनुमरण तथा अनुसरण का महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलता है। अनुमरण की प्रथा साधारण रूप से सती प्रथा के रूप में जानी जाती है। कामपाल की पत्नी अपने पति की मृत्यु पर उसको अनुसरण करने को तैयार हुई दिखाई देती है।[2] एक अन्य विवरण में रानी वसुमती राजा की मृत्यु की सूचना पाकर फांसी का फन्दा लगाकर मरने का प्रयास करती है।[3]

वेश्याएँ एवं गणिकाएं उस समय सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थीं। दशकुमारचरितम् में इसके लिए वारवनिता, वारयुवति, गणिका तथा रूपाजीवा आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। दशकुमारचरितम् में कामञ्जरी एवं रागमञ्जरी के लिए अनेक स्थानों पर गणिका शब्द प्रयुक्त हुआ है, कहीं-कहीं वेश्या का भी प्रयोग हुआ है। गणिका का प्रधान उद्देश्य जनसाधारण के मनोरजंन आमोद-प्रमोद के बदले धन वसूल करना था। इस तरह तत्कालीन वेश्या समाज काफी समृद्ध हो गया था।

---

1 स्त्रीधर्मश्चैव यद्दुष्टस्य दुष्टस्य वा भर्तुर्गतिर्गन्तव्येति।
तदहममुनैव सह चिताग्निमारोक्ष्यामि। दश. उ. 4, पृ. 127

2 "अतोऽनुमन्तुमर्हसि भर्त्रा सह चिताधिरोहणाय माम् इति।" दश. उ. 4, पृ. 130

3 दश. पू. 1, पृ. 20

दशकुमारचरितम् में दासी प्रथा का भी उल्लेख प्राप्त होता है। कुछ स्त्रियाँ दूती के रूप में भी कार्य करती थीं जो दासी जैसी ही स्थिति में थीं। काममञ्जरी की मुख्य दूती एक बौद्ध भिक्षुणी धर्मरक्षिता थी।[1]

3. विमर्श

समानता - मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् के रचना-काल में लगभग सौ वर्षों का अन्तर है अतः तत्कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं आ पाता है। यही बात इन दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से भी स्पष्ट होती है। अतः दोनों ग्रन्थों के स्त्रियों की दशा में अत्यन्त समानता दृष्टिगोचर होती है।

दोनों ही ग्रन्थों में कुल स्त्रियों की स्थिति लगभग सम्मानजनक प्रतीत होती है। मृच्छकटिकम् में धूता एवं दशकुमारचरितम् में राजा राजहंस की पत्नी वसुमती के वर्णन से ऐसा ही प्रतीत होता है।

दोनों ग्रन्थों में पूर्वकाल की अपेक्षा स्त्री-वर्ग की दशा में कुछ गिरावट दृष्टिगोचर होती है। प्राचीनकाल की अपेक्षा इस समय इनका उपनयन संस्कार भी बन्द हो गया था। सामान्य वर्ग की लड़कियों की शिक्षा के विषय में कोई विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

समाज में अनुलोम विवाह ही प्रचलित था, जिसका उल्लेख दोनों ग्रन्थों में किया गया है। प्रतिलोम विवाह का एक भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार वैवाहिक सम्बन्धों में जाति का प्रतिबंध नहीं था। स्त्रियाँ प्रायः पतिव्रता होती थीं। पत्नी से यह आशा की जाती थी कि वह हर प्रकार की स्थिति में अपने पति का साथ दे और उसकी सेवा करे। पति का भी यह कर्त्तव्य था कि वह अपनी पत्नी के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व निभाये।

---

1 दश. उ. 2, पृ. 50

दोनों ही ग्रन्थों में पतिव्रता स्त्रियों के साथ ही साथ कुछ ऐसी स्त्रियों का भी आभास मिलता है जो क्रूर होती थीं और अपने पति को छोड़कर दूसरे पुरुष के साथ चली जाती थीं।

दोनों ही ग्रन्थों में बहुविवाह के दृष्टान्त प्राप्त होते हैं। मृच्छकटिकम् में चारुदत्त की दो पत्नियों क्रमशः धूता एवं वसन्तसेना का वर्णन मिलता है। दशकुमारचरितम् में बहुविवाह के अनेक उदाहरण हैं, जैसे पूर्णभद्र का कान्तिमती एवं तारावली तथा अपहरवर्मा का रागमञ्जरी एवं राजकन्या अम्बालिका के साथ विवाह का वर्णन। मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् में वर्णित पर्दा-प्रथा से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि दोनों ही ग्रन्थों में पर्दा-प्रथा में पूर्वकाल की तुलना में कुछ शिथिलता आ गई थी। यह प्रथा केवल उच्चवर्ग एवं राजवंश की स्त्रियों में ही कुछ सीमा तक दृष्टिगोचर होती है, जब कि सामान्य एवं निम्नवर्ग की स्त्रियों में इस प्रथा का लगभग अभाव था।

दोनों ही ग्रन्थों में विधवाओं की दशा के वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि समाज में उनकी स्थिति अच्छी नहीं थी तथा स्त्रियाँ अपने पति की मृत्यु के बाद मरना पसंद करती थीं, यद्यपि यह उनकी व्यक्तिगत इच्छा से ही होता था तथा समाज इसके लिए उन्हें बाध्य नहीं करता था। सती-प्रथा का उल्लेख होने से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में यह प्रथा विद्यमान थी और स्त्रियाँ अपने पति के साथ उसकी चिता में मरना पसंद करती थीं।

दोनों ही ग्रन्थों में स्त्रियों का एक अन्य वर्ग था, जिसे वेश्या या गणिका कहते थे। मृच्छकटिकम् में वसन्तसेना एवं मदनिका तथा दशकुमारचरितम् में कामञ्जरी एवं रागमञ्जरी का उल्लेख वेश्या या गणिका के रूप में हुआ है। तत्कालीन समाज में इसका उद्देश्य जनसाधारण के आमोद-प्रमोद के बदले धन वसूल करना था। दोनों ही ग्रन्थों में वेश्या समाज काफी समृद्ध प्रतीत होता है।

दोनों ग्रन्थों के अध्ययन से स्त्रियों के एक अन्य वर्ग दासी वर्ग के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। मृच्छकटिकम् में वंसतसेना की दासी मदनिका एवं दशकुमारचरितम् में काममञ्जरी की दासी धर्मरक्षिता का उल्लेख प्राप्त होता है। दासियों का उल्लेख स्त्रियों की निम्नतम श्रेणी के रूप में हुआ है।

विषमता- मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् में वर्णित स्त्री-वर्ग की दशा के अनुशीलन से यह बात स्पष्ट होती है कि दोनो ग्रन्थों में वर्णित स्त्रियों की दशा लगभग समान थी। इसकी पुष्टि अन्य तत्कालीन साहित्यिक एवं सांस्कृतिक ग्रन्थों से भी होती हैं। इससे स्पष्ट होता है कि दोनों ग्रन्थों के रचना-काल में स्त्री-वर्ग की दशा तत्कालीन समाज में भी लगभग एक-समान थी। यद्यपि लगभग सौ वर्षों का अन्तर होने पर परवर्तीकालीन रचना दशकुमारचरितम् में स्त्री-वर्ग की दशा में नाममात्र की गिरावट परिलक्षित होती है।

मृच्छकटिकम् में स्त्रियों का चित्रण अधिक आदर्श रूप में हुआ है तथा धूता, वसंतसेना आदि स्त्री-पात्र समाज में एक आदर्शरूप को प्रस्तुत करती है। इसके विपरीत दशकुमारचरितम् में स्त्रियों के आदर्श रूप के साथ ही साथ कुछ का वर्णन अधिक क्रूर रूप में भी हुआ है। धूमिनी की कथा के प्रसंग में स्त्री का अत्यन्त वीभत्स रूप में वर्णन हुआ है जो अपने पति की हत्या करने के लिए उसे कुएँ में भी गिरा देती है।

मृच्छकटिकम् में केवल चारुदत्त की पत्नी धूता का वर्णन गृहिणी रूप में हुआ है, जब कि दशकुमारचरितम् में स्त्री के गृहिणी रूप का अत्यन्त विशद् वर्णन हुआ है। दशकुमारचरितम् में गृहिणी के दो गुण मितव्ययिता एवं पाक-कला का यथेष्ट ज्ञान होता है।

मृच्छकटिकम् में नारी का प्रेयसी रूप में केवल दो स्त्रियों वसन्तसेना एवं मदनिका का उल्लेख हुआ है, जब कि दशकुमारचरितम् में इसका उल्लेख प्रचुरता से किया गया है। इस ग्रन्थ में लगभग सभी कुमार अपनी प्रेयसी से विवाह सम्पन्न कर लेते हैं।

मृच्छकटिकम् में पुनर्विवाह का कोई उल्लेख नहीं किया गया है, जब कि दशकुमारचरितम् में नितम्बवती के अपने पति द्वारा त्याग दिये जाने पर कलहकण्टक नामक व्यक्ति से पुनर्विवाह का उल्लेख प्राप्त होता है।

मृच्छकटिकम् के अध्ययन से यह बात स्पष्ट होती है कि उस काल की गणिकाएं कुल-वधू का पद प्राप्त करने के लिए लालायित रहती थीं, क्योंकि यह पद समाज में अत्यन्त सम्मानजनक था। राजा द्वारा 'वधू' की पदवी प्रदान करने पर गणिका का कलंक प्रक्षालित हो जाता था। दशकुमारचरितम् में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

मृच्छकटिकम् में पति की मृत्यु पर पत्नी द्वारा आत्मोसर्ग का केवल एक प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है जिसमें धूता अग्नि में अपने आप को समर्पित करना चाहती है, इसके विपरीत दशकुमारचरितम् में पति की मृत्यु पर पत्नी द्वारा आत्मोसर्ग का दो प्रकार का वर्णन किया गया है, प्रथम फांसी द्वारा, जिसे रानी वसुमती करना चाहती है, एवं द्वितीय कामपाल की पत्नी जो आग में जलकर मरना चाहती है।

मृच्छकटिकम् में वेश्या के लिए, केवल दो शब्द वेश्या एवं गणिका का प्रयोग मिलता है, जब कि दशकुमारचरितम् में वेश्या, गणिका, वारवनिता, वारयुवति एवं रूपाजीवा आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।

निष्कर्ष - मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दोनों ग्रन्थों के रचना-काल में कुछ समय का

अन्तराल होने पर भी उन ग्रन्थों में वर्णित स्त्री-वर्ग की दशा में कोई विशेष अन्तर नहीं आया है। इससे इस बात की पुष्टि हो जाती है कि तत्कालीन समाज में भी सौ वर्षों में स्त्री-वर्ग की दशा में कोई अन्तर नहीं आया है। इतना अवश्य है कि वैदिककालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति जितनी उच्च एवं सम्मानपूर्ण थी, उतनी इन ग्रन्थों के रचना-काल में नहीं रही। इनकी सामाजिक स्थिति में क्रमिक रूप से पतन के लक्षण आते गये तथा आजकल भारतीय स्त्रियों की जो शोचनीय व दयनीय स्थिति है, वह प्राचीन भारतीय संस्कृति के आदर्शों के बिल्कुल विपरीत है।

प्राचीन भारतीय स्त्रियों का प्राचीन वैशिष्ट्य आज भी कुछ अंशों में वर्तमान है। आधुनिक भारतीय नारी पति की सहचरी का आदर्श दुनिया के सामने रख सकती है। इस गिरी हुई हालत में भी उसमें जो तप, त्याग, पति-निष्ठा आदि के भाव कूट-कूटकर भरे हैं, वे अन्यत्र कहीं नहीं पाये जाते। स्त्रियों ने प्राचीन आदर्शों को बहुत कुछ सँभाल रखा है, किन्तु पुरुष उनसे च्युत हो गये हैं। स्त्री को कितने ही दुःख सहने पड़ते हैं। पति मूर्खता के कारण उसे ठुकराता है तथा पर-स्त्री-गमन आदि दोषों से असह्य कष्ट भी देता है। वह सब यातनाएँ मूक भाव से सह लेती है।

(ख) 1. मृच्छकटिकम् में वर्णित विवाह-पद्धति

विवाह का अभिप्राय एक ऐसी सामाजिक संस्था से है जो स्त्री और पुरुष को कुछ विशेष नियम और विधि के अन्तर्गत यौन सम्बन्ध स्थापित करने की अनुज्ञा प्रदान करती है और उनके विभिन्न अधिकारों को मान्यता प्रदान करती है।

हिन्दू संस्कृति में विवाह का महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिसे एक धार्मिक संस्कार के रूप में ग्रहण किया गया। गार्हस्थ जीवन का प्रारंभ ही विवाह से माना गया है।[1] विवाहोपरान्त ही मनुष्य जीवन के विस्तृत क्षेत्र में पदार्पण करता है। विवाह संस्कार का उद्देश्य अत्यंत पवित्र और गौरवशाली है। इसके माध्यम से मनुष्य अपने समस्त अपेक्षित कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है। धर्म का पालन, पुत्र की प्राप्ति एवं रति का सुख विवाह के प्रधान उद्देश्य माने गये हैं।[2] वस्तुतः मनुष्य को धर्म-सुख, पुत्र-सुख और रति-सुख विवाह से ही उपलब्ध होता है। इसके साथ-साथ उसे देवऋण, ऋषिऋण, पितृऋण, अतिथिऋण और भूतऋण से भी मुक्ति मिलती है।

मृच्छकटिकम् में वर्णित सामाजिक-व्यवस्था में विवाह एक महत्त्वपूर्ण संस्था के रूप में विद्यमान था। सामान्यतः सवर्ण या सजातीय विवाह का प्रचलन था। चारुदत्त एवं उसकी पत्नी धूता के आधार पर यह तथ्य स्पष्ट होता है। समाज में अनुलोम विवाह का भी प्रचलन था। ब्राह्मण चारुदत्त एवं ब्राह्मण शर्विलक ने क्रमशः वसन्तसेना[3] एवं मदनिका से अनुलोम विवाह किया। प्रतिलोम विवाह का कोई भी उल्लेख मृच्छकटिकम् में नहीं है।

समाज में प्रेम-विवाह का प्रचलन सामान्य था। चारुदत्त एवं शर्विलक दोनों ने गणिका से प्रेम-विवाह किया। गणिका से विवाह को समाज सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता था तथा यह एक साहसिक कार्य था। इन प्रेम-

---

[1] मनुजास्तत्र जायन्ते यतो नागृहधर्मिणः।
तस्य कर्तुर्नियोगेन संसारो येन वर्धितः।।
-याज्ञ. 5.97, मत्स्यपुराण 154; 152-53

[2] मनु. 9.28

[3] डॉ त्रिपाठी, रमाशङ्कर मृच्छ., पृ. 739

विवाहों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वैवाहिक सम्बन्धों में जाति का कोई प्रतिबंध नहीं था।

वैधानिक एवं धार्मिक रीति से विवाह को अत्यन्त सम्मानजनक समझा जाता था। एक स्थल पर आर्यक प्रसंगवश कहता है कि विवाह की अग्नि तथा चिता की अग्नि दोनों में समानता नहीं होती।[1] आर्यक के इस कथन से यह बात स्पष्ट होती है कि वर्तमान वैवाहिक रीति की तरह मृच्छकटिकम् में वर्णित समाज में भी अग्नि को साक्षी मानकर वर एवं कन्या अग्नि के सात फेरे लेकर विवाह के बन्धन में बँध जाते थे।

वध-स्थल पर अपनी प्रेमिका वसन्तसेना के पहुँच जाने पर चारुदत्त कहता है कि प्रिया के आ जाने से, वही लाल वस्त्र दुलहे के वस्त्र के समान और माला दुलहे को पहनायी गयी माला के समान शोभित हो रही है और उसी प्रकार वध के लिए बजाये जाते हुए बाजों की ये आवाजें विवाह के बाजों की ध्वनियों के समान हो गई हैं।[2] इससे यह ज्ञात होता है कि विवाह के समय दूल्हे को लाल रंग का वस्त्र एवं माला पहनाया जाता था तथा विभिन्न प्रकार के बाजों का प्रचलन था।

एक स्थल पर आर्यक बैलगाड़ी को आता हुआ देखकर यह शंका करता है कि यह किसी दुलहिन की संवारी न हो जो उसे ले जाने के लिए आयी है।[3] इससे यह स्पष्ट होता है कि विवाहोपरान्त दुलहिन को सजा-सवाँरकर पति के घर भेजा जाता था।

---

1 एककार्यनियोगेऽपि नानयोस्तुल्यशीलता।
विवाहे च चितायां च यथा हुतभुजोर्द्वयोः।। मृच्छ. अङ्क 6/16

2 वही, 10/44

3 भवेद्गोष्ठीयानं न च विषमशीलैरधिगतं
वधूसंयानं वा तदभिगमनोपस्थितमिदम्। मृच्छ. अङ्क 6/4

समाज में बहुविवाह का प्रचलन था। तत्कालीन समाज में बहुविवाह के दो रूप थे प्रथम बहुपत्नीत्व एवं द्वितीय बहुपतित्व। मृच्छकटिकम् में बहुविवाह का केवल बहुपत्नीत्व रूप ही प्रचलन में था, जिसके अन्तर्गत पति अपनी पत्नी के जीवन-काल में ही एक से अधिक पत्नी रखता था। चारुदत्त के धूता एवं वसन्तसेना नामक दो पत्नियाँ होने से इस कथन की पुष्टि होती है। मृच्छकटिकम् में बहुपतित्व का कोई भी उदाहरण प्राप्त नहीं होता है।

एक स्थल पर वसन्तसेना विट से कहती है कि कमजोर है पति जिसका ऐसी स्त्री के समान चाँदनी का मेघों ने बलपूर्वक हरण कर लिया है।[1] इससे यह भी ज्ञात होता है कि समाज में कमजोर पति वाले पत्नियों का बलशाली व्यक्तियों द्वारा अपहरण कर लिया जाता है।

सामान्यतः विवाहित स्त्रियां ही अपने पति की मृत्यु पर सती होती थीं। चारुदत्त को मृत्युदण्ड की सज़ा सुनाने के बाद उसकी पत्नी धूता अग्नि में कूद कर अपना जीवन समाप्त करना चाहती है।[2]

विवाहित नारियों का सम्मान देखकर मृच्छकटिकम् में गणिकाएँ भी विवाह बन्धन में आबद्ध होने को लालायित रहती थीं। वसन्तसेना एवं मदनिका के प्रसंग में यह बात स्पष्ट हो जाती है।

2. दशकुमारचरितम् में वर्णित विवाह-पद्धति

प्रत्येक मनुष्य का धार्मिक कृत्य था विवाह करना, क्योंकि पत्नी के बिना कोई भी यज्ञ व धार्मिक कृत्य पूरा नहीं हो सकता था। जब तक पुरुष विवाहित नहीं हो जाता, तब तक वह वस्तुतः अपूर्ण ही रहता है। विवाहोपरान्त ही वह सच्चे अर्थों में पूर्णत्व को प्राप्त करता है।

---

[1] ज्योत्स्ना दुर्बलभर्तृकेव वनिता प्रोत्सार्य मेघैर्हृता।। मृच्छ. अङ्क 5/20

[2] डॉ. त्रिपाठी रमाशंकर, मृच्छ., पृ. 730

दशकुमारचरितम् में वर्णित सामाजिकव्यवस्था के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि उस समय वैवाहिक सम्बन्ध प्रायः सवर्ण लोगों में होते थे, किन्तु अन्तर्जातीय विवाह भी सम्भव थे। कुछ स्थलों पर हमें अन्तर्जातीय विवाह के उद्धरण उपलब्ध हो जाते हैं। ऐसे विवाह दो प्रकार के होते हैं- (1) अनुलोम, जिसमें ऊँचे वर्ग का वर निचले वर्ग की कन्या के साथ विवाह कर लेता है तथा (2) प्रतिलोम, जिसमें ऊँचे वर्ग की कन्या का निचले वर्ग के युवक के साथ वैवाहिक सम्बन्ध होता था। किन्हीं परिस्थितियों में अनुलोम विवाह को भी ग्राह्य माना जाता है। दशकुमारचरितम् से यह बात प्रमाणित होती है कि जातीय बन्धन शिथिल हो गये थे तथा समाज में अन्तर्जातीय विवाह ग्राह्य थे। ब्राह्मण कामपाल का काशीराज चण्डसिंह की पुत्री कान्तिमती के साथ विवाह[1] तथा अपहारवर्मा का गणिका रागमञ्जरी के साथ विवाह[2] जातीय शिथिलता के ज्वलन्त उदाहरण हैं। एक अन्य स्थल पर शक्तिकुमार अपनी जाति की एक सुन्दर कन्या से उसके निपुण न होने से विवाह नहीं करता है, जब कि अन्य गुणवती से विवाह कर लेता है,[3] लेकिन यहाँ उसकी जाति का उल्लेख न करना अन्तर्जातीय विवाह का सन्देह पैदा करता है। राजवाहन, अन्य कुमार अपने वर्ग-जाति की कन्या से विवाह करते हैं।

समाज में सामान्य रीति के वैध एवं धार्मिक विवाह होते थे, जो वैवाहिक अग्नि के मन्त्रों के उल्लेख से प्रकट होता है। गान्धर्व अथवा प्रेम-विवाह का दशकुमारचरितम् के समाज में पर्याप्त प्रचलन था। करीब-करीब सभी कुमारों के विवाहों को गान्धर्व की कोटि में रखा जा सकता है, क्योंकि

---

[1] झा, विश्वनाथ, दशकुमारचरितम् , उ. 4, पृ. 122

[2] वही, उ. 2, पृ. 51

[3] दश. उ. 6, पृ. 195

इन्होंने देश-विदेशों में भ्रमण करते समय कन्याओं के रूप-गुण से प्रभावित होकर प्रेम-विवाह किया था, जिसमें वर एवं वधू पक्ष के अभिभावकों की उपस्थिति एवं सहमति का अभाव रहा है। यह भी कहना अनुचित होगा कि उस समय सभी विवाह गान्धर्व विवाह ही हुआ करते थे। कुछ के उदाहरण ऐसे प्राप्त होते हैं जिसमें वर तथा वधू पक्ष के अभिभावकों की सहमति तथा उपस्थिति परिलक्षित होती है। लेकिन विवाह का वही आर्य स्वरूप ही प्रचलित था जिसमें शुभ मुहूर्त में अग्नि के समक्ष मन्त्रों के उच्चारण के बीच परिणय हुए।[1]

माँ-बाप द्वारा आपसी सहमति के आधार पर पूर्व निश्चित विवाह के पर्याप्त उदाहरण दशकुमारचरितम् में मौजूद हैं। सोमदत्त का विवाह वीरकेतु की पुत्री से होता है, जिसमें वर-वधू का विवाह पूर्व सामना भी नहीं हुआ था तथा वीरकेतु अपनी इच्छा से अपनी पुत्री का विवाह गुण सम्पन्न वर सोमदत्त के साथ कर देता हैं। एक अन्य स्थल पर कामरूप देश के राजा क़लिंगवर्मा अपनी पुत्री कल्पसुन्दरी का विवाह उपहारवर्मा से निश्चित करता है। ये तथ्य यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं कि अभिभावक आपसी सहमति के आधार पर विवाह निश्चित कर देते थे। युवक-युवती स्वयं भी एक दूसरे को जीवनसाथी के रूप में वरण कर लेते थे। विवाहित स्त्रियाँ समाज में कुलवधू कहलाती थी, उनकी सामाजिक एवं पारिवारिक स्थिति अच्छी होती थी।

दशकुमारचरितम् के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में वर-वधू की उम्र पर विचार करना अनिवार्य माना जाता था, प्रायः पूर्ण यौवन प्राप्त युवकों तथा युवतियों के ही विवाह सम्बन्ध हुआ करते थे। सामान्यतया सोलह से बीस वर्ष की आयु के बीच विवाह करने के प्रमाण उस समय उपलब्ध होते हैं। उस समय बाल विवाह नहीं होते थे, वैसे उसका

---

[1] दश. पू. 5, पृ. 136

पूर्णतः निषेध भी हम नहीं पाते। एक स्थल पर यह प्रसंग आया है कि शक्तिकुमार नामक वैश्य जब 18 वर्ष का हुआ तो सोचता है कि गुणवती नारी के बिना जीवन सूना है, कैसे प्राप्त करूँ? विवाह के बाद कुछ नहीं हो सकता लेकिन दूसरे पर भरोसा कैसे करूँ?[1] इस तथ्य से इसकी पुष्टि हो जाती है कि युवक होने पर 18 वर्ष के बाद की उम्र में ही विवाह सम्बन्ध किये जाते थे तथा कन्याएँ भी ऐसी होती थी जो पूर्ण नवयुवती होती थीं तथा सम्भोग-योग्य तथा निपुण कार्य-कुशल होती थीं। कुल के साथ-साथ वर और वधू के व्यक्तिगत गुणों व स्वभाव आदि को दृष्टि में रखना भी आवश्यक था। राजपरिवारों में वीर पुरुष को विवाह के सर्वथा योग्य समझा जाता था तथा राजाओं एवं युवराजों में वीरता का होना एक श्रेष्ठ गुण माना जाता था। सोमदत्त अपनी कथा में कहता है कि "उसे (वीरकेतु को) मेरी वीरता पर आश्चर्य हुआ और उसने अपने बन्धु-बान्धवों से राय लेकर एक दिन शुभ मुहूर्त में अपनी कन्या से मेरा विवाह कर दिया।"[2]

पुष्पोद्भव बालचन्द्रिका से कहता है कि "भय लज्जा छोड़कर अपने माता-पिता से हमारे प्रेम की बात कहकर प्रार्थना करना कि वे मुझसे तुम्हारा विवाह कर दें। मैं कुलीन हूँ, अतः उन्हें कोई आपत्ति न होगी।"[3] लेखक के इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि विवाह के लिए माता-पिता की सहमति उत्तम मानी जाती थी, भले ही आवश्यक न रही हो। दशकुमारचरितम् में विवाह सम्बन्धों में छल-प्रपञ्च भी दृष्टिगोचर होता है।

---

[1] सोऽष्टादशवर्षदेशीयश्चिन्तामापेदे - 'नास्त्यदाराणामननुगुणदाराणां वा सुखं नाम। तत्कथं नु गुणवद्विन्देयं कलत्रम्' इति। दश. उ. 6, पृ. 186

[2] 'मदीयपराक्रमे विस्मयमानः समहोत्सवममात्यबान्धवानुमत्या शुभदिने निजतनयां मह्यमदात्।' दश. पू. 3, पृ. 75

[3] दश. पू. 4, पृ. 94

बहु-विवाह की प्रथा भी समाज में प्रचलित थी। दशकुमारचरितम् में बहुविवाह के प्रचलन के अनेक उदाहरण हैं। पुरुष एक से अधिक स्त्रियों से विवाह कर लेते थे, सम्भवतः स्त्रियाँ भी एक से अधिक पुरुषों से विवाह यत्र-तत्र कर लेती थीं। अपहारवर्मा रागमञ्जरी तथा राजकन्या दोनों से विवाह करके बहुविवाह की पुष्टि कर देता है। पूर्णभद्र की कान्तिमती तथा तारावली नामक दो पत्नियाँ थीं।[1] यदाकदा विधवा विवाह भी समाज में हुआ करते थे। कुछ अवस्थाओं में स्त्री अपना पहला पति छोड़कर दूसरे पुरुष से विवाह भी कर लेती थी।

विवाह की प्रक्रिया तथा विवाहों के विवरणों से प्रतीत होता है कि वैसे तो अनेक प्रकार के विवाह प्रचलित थे, परन्तु ब्राह्म विवाह शास्त्र-सम्मत माना जाता था, जब कि गान्धर्व विवाह भी खूब प्रचलित थे। उस समय विवाह के महत्त्व को स्वीकार तो किया जाता था, लेकिन कामी प्रेमी-प्रेमिकाएं विवाह के पूर्व भी रतिक्रीडा किया करते थे तथा इसमें कोई बुराई नहीं मानते थे। गणिकाएं भी विवाहित नारियों का सम्मान देखकर विवाह बन्धन में बँधने को लालायित रहती थीं।

3. विमर्श

समानता- दोनों ग्रन्थों के विवाह पद्धतियों में अत्यधिक समानता दृष्टिगोचर होती है।

दोनों ही ग्रन्थों में सामान्यतः सवर्ण या सजातीय विवाह का प्रचलन था। मृच्छकटिकम् में चारुदत्त का धूता के साथ तथा दशकुमारचरितम् में राजवाहन एवं अन्य कुमारों का अपनी वर्ग-जाति की कन्या के साथ विवाह सम्पन्न करने से सवर्ण विवाह की पुष्टि होती है।

---

[1] दश. उ. 4, पृ. 120

दोनों ही ग्रन्थों में बाल-विवाह का अभाव था तथा पूर्ण युवक एवं युवती ही आपस में विवाह कर सकते थे।

दोनों समाजों में अनुलोम विवाह का प्रचलन था। मृच्छकटिकम् में ब्राह्मण चारुदत्त एवं ब्राह्मण शर्विलक क्रमशः वसन्तसेना एवं मदनिका नामक गणिका से अनुलोम विवाह करते है। दशकुमारचरितम् में भी ब्राह्मण कामपाल का काशीराज चण्डसिंह की पुत्री कान्तिमती एवं अपहारवर्मा का गणिका रागमञ्जरी से विवाह होने से अनुलोम विवाह के प्रमाण मिल जाते हैं।

दोनों ही ग्रन्थों में वैधानिक एवं धार्मिक रीति से सम्पन्न विवाह को सम्मानजनक माना गया है। मृच्छकटिकम् में आर्यक के वैवाहिक अग्नि विषयक कथन एवं दशकुमारचरितम् में शुभ मुहूर्त में अग्नि के समक्ष मन्त्रों के उच्चारण के बीच हुए परिणय के उल्लेख से इसकी पुष्टि होती है।

मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् दोनों ही ग्रन्थों के समाजों में बहुविवाह का पर्याप्त प्रचलन था। सामान्यतः बहुपत्नी प्रथा का ही प्रचलन दोनों ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होता है, जब कि बहुपतिप्रथा का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। मृच्छकटिकम् में चारुदत्त का धूता एवं वसन्तसेना से विवाह बहुपत्नीप्रथा को पुष्ट करता है। दशकुमारचरितम् में बहुपत्नी-विवाह के अनेक उदाहरण व्याप्त हैं, जैसे- अपहारवर्मा का रागमञ्जरी एवं राजकन्या तथा पूर्णभद्र का कान्तिमती एवं तारावली से विवाह इत्यादि।

दोनों ग्रन्थों के समाज में विवाहित स्त्रियों का अत्यन्त सम्मान था, अतः गणिकाएं भी वधू बनने के लिए लालायित रहती हैं। मृच्छकटिकम् में वसन्तसेना वधू पद प्राप्त करने के लिए अपने ऐश्वर्यशाली जीवन को त्यागकर निर्धन चारुदत्त से प्रेम-विवाह कर वधू पद की प्राप्ति करती है। दशकुमारचरितम् में भी गणिका रागमञ्जरी अपहारवर्मा से विवाह सम्पन्न करती है।

दोनों ही ग्रन्थों में विवाहित स्त्रियाँ ही सती हो सकती थीं। दोनों ही ग्रन्थों में नियोग-प्रथा का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

विषमता- मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् में वर्णित समाज के वैवाहिक रीतियों में अत्यधिक समानता के साथ ही साथ कुछ अन्तर भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

मृच्छकटिकम् में विवाह के लिए निर्धारित आयु से सम्बन्धित जानकारी का अभाव पाया जाता है, जब कि दशकुमारचरितम् में इसका विशेष उल्लेख हुआ है। सामान्यतः सोलह से बीस वर्ष विवाह का उम्र माना जाता है। शक्तिकुमार के प्रसंग से स्पष्ट होता है कि पुरुषों का विवाह अठारह वर्ष के बाद ही होता था। कन्याओं का भी विवाह पूर्णयुवती होने के बाद ही होता है।

मृच्छकटिकम् में विवाह के लिए माता-पिता की सहमति आवश्यक मानी जाती थी या नहीं इस बात का कोई आभास नहीं मिल पाता है, इसके विपरीत दशकुमारचरितम् में विवाह के लिए माता-पिता की सहमति उत्तम मानी जाती थी भले ही यह आवश्यक न रही हो। पुष्पोद्भव का बालचन्द्रिका से इस सन्दर्भ में कथन इस बात की पुष्टि कर देता है।

मृच्छकटिकम् में विवाह सम्बन्धों में कोई छल-प्रपञ्च नहीं दृष्टिगोचर होता, जब कि दशकुमारचरितम् में विवाह सम्बन्धों में छल-प्रपञ्च की अधिकता है।

मृच्छकटिकम् में प्रेम-विवाह या गान्धर्व विवाह केवल ब्राह्मण वर्ण के पुरुष ही सम्पन्न करते हैं किन्तु दशकुमारचरितम् में तीनों उच्च वर्णों के पुरुषों द्वारा गान्धर्व-विवाह सम्पन्न किया गया है।

मृच्छकटिकम् में वर्णित समाज में ऐसा संकेत मिलता है कि विवाह के समय दुल्हा लालवस्त्र, एवं माला पहनता था तथा अनेक प्रकार के बाजे बजाये जाते थे, जब कि दशकुमारचरितम् में ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता है।

मृच्छकटिकम् में एक स्थल पर आर्यक द्वारा आते हुए बैलगाड़ी को देखने के प्रसंग से ज्ञात होता है कि विवाहित पत्नी सजधज कर एवं समारोह के साथ अपने पिता के घर से विदा होकर अपने पति के घर जाती है, जब कि दशकुमारचरितम् में ऐसा कोई भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

मृच्छकटिकम् में सती प्रथा का वर्णन ब्राह्मण वर्ण के लिए हुआ है किन्तु दशकुमारचरितम् में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय दोनों वर्णों के लिए इस प्रथा का वर्णन हुआ है।

निष्कर्ष - इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों ग्रन्थों में वर्णित समाज के विवाह पद्धतियों में कुछ अन्तर होने पर भी अत्यधिक समानता दृष्टिगोचर होती है। यही स्थिति तत्कालीन समाज में भी वर्तमान थी, अतः दोनों ग्रन्थों के समाज एवं दोनों ग्रन्थों के रचना-काल में भारतीय समाज की स्थिति लगभग समान थी।

तत्कालीन समाज एवं तत्कालीन ग्रन्थों में विवाह के आठ प्रकार ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाच आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें प्रथम चार को 'धर्म्य' कहा गया है अर्थात् ये चारों धर्मशास्त्रों में स्वीकृत हैं जब कि बाद के चार प्रकार को 'अधर्म्य' कहा गया है, जिसकी स्वीकृति नहीं है। इन दोनों ग्रन्थों में सामान्य रूप से ब्राह्म एवं गान्धर्व या प्रेम-विवाह का ही वर्णन प्राप्त होता है। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि तत्कालीन समाज में इन दोनों विवादों के अतिरिक्त अन्य विवाह प्रकार प्रचलन में थे ही नहीं, अपितु यह कहना उचित होगा कि

इस समय इन दोनों विवाहों के प्रकार अधिक प्रचलन में थे एवं अन्य प्रकार के विवाह अत्यन्त गौण रूप से प्रचलन में थे।

अधिकांश तत्कालीन धर्मशास्त्रों में मुख्यतः क्षत्रियों के लिए मुख्य रूप से गान्धर्व विवाह की अनुमति प्रदान की गई है।[1] मृच्छकटिकम् के रचयिता ने तो केवल ब्राह्मणों के लिए ही गान्धर्व विवाह का वर्णन किया है तथा दशकुमारचरितम् के रचयिता ने तीनों उच्च वर्णों के लिए गान्धर्व विवाह का वर्णन किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में लगभग सभी उच्च वर्णों के लिए प्रेम विवाह करने की स्वीकृति थी। बाद में राजकुमारों एवं अन्य अभिजात वर्गों ने क्षत्रियों के लिए दी गई गान्धर्व विवाह की अनुमति का लाभ अपनी कामवासना की संतुष्टि के लिए उठाया जिसकी परिणति बहुपत्नीत्व के रूप में हुई। बहुपत्नीत्व विवाह से पितृसत्तात्मक समाज की विशिष्टता दृष्टिगोचर होती है।

मृच्छकटिकम् काल के अन्य ग्रन्थों से ऐसा संकेत मिलता है कि उस समय कन्याओं का विवाह सामान्यतः 12-13 वर्ष की अवस्था में होता था, अतः उनका उपनयन संस्कार भी बंद हो गया था, जब कि मृच्छकटिकम् में ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता है कि कन्याओं का अल्पायु में विवाह होता था। दशकुमारचरितम् काल के स्मृतिकारों द्वारा लड़कियों का विवाह 8-9 वर्ष की अवस्था में यौवनारंभ के पूर्व ही करने का विधान किया गया है, किन्तु दशकुमारचरितम् में स्त्रियों का विवाह पूर्ण युवती हो जाने पर ही करने का उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रकार दोनों ही ग्रन्थों में स्त्रियों के विवाह की आयु तत्कालीन धर्मशास्त्रों में वर्णित विवाह की आयु के विपरीत पूर्ण युवावस्था में होने का संकेत मिलता है।

---

1 बौधायन, 1, 20, 12; मनु. 111.26; विष्णु, 24.28

मृच्छकटिकम् में विवाह के समय दुल्हे के लिए लालवस्त्र एवं माला तथा बाजा बजने का उल्लेख एवं दशकुमारचरितम् में इसका उल्लेख नहीं हुआ है, किन्तु वर्तमान समय में विवाह के समय दुल्हे के लिए विशेष प्रकार की पोशाक, माला एवं बाजा आदि का विधान होने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन विशेष वस्तुओं का प्रयोग विवाह के समय भारतीय समाज में प्राचीन काल से वर्तमान काल तक लगातार होता रहा है, यद्यपि दशकुमारचरितम् में इसका कोई उल्लेख नहीं हुआ है।

इसी प्रकार विवाहिता स्त्री को सजा-संवारकर पति के घर भेजने की जिस परम्परा का उल्लेख मृच्छकटिकम् में हुआ है, वह वर्तमान समय में भी प्रचलित है तथा दशकुमारचरितम् में इसका उल्लेख नहीं हुआ है, वह परम्परा भारतीय समाज में प्राचीनकाल से अब तक निरन्तर चली आ रही है।

मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् के समय के अन्य ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में सती-प्रथा का उल्लेख केवल क्षत्रिय वर्ण के लिए हुआ है। इसकी पुष्टि अन्य तत्कालीन धर्मग्रन्थों द्वारा भी हुई है, किन्तु इन दोनों ही ग्रन्थों में ब्राह्मणों के लिए भी सती प्रथा का वर्णन होने से यह निष्कर्ष निकलता है कि यह प्रथा उस समय समाज के दोनों उच्च वर्णों में भी व्याप्त हो गई थी।

(ग) 1. मृच्छकटिकम् में वर्णित गणिका जीवन एवं वेश्यावृत्ति

मृच्छकटिकम् में वर्णित सामाजिक व्यवस्था में गणिका एवं वेश्या का स्थान महत्त्वपूर्ण था। दशरूपक के अनुसार साधारण स्त्री को गणिका कहते है।[1] वह कला, प्रगल्भता और धूर्तता से युक्त होती है। वेश्या शब्द की

---

[1] दशरूपकम्, 2/15

व्युत्पत्ति 'वेशेन पण्ययोगेन जीवति इति वेश्या' है। यह शब्द वेश्या या गणिका के लिए प्रयुक्त होता है। पण्यस्त्रियाँ बाजारू वस्तु के सदृश थीं, जिन्हें जो चाहे धन देकर खरीद सकता था।[1] वेश्याएँ अपने रूप यौवन द्वारा धन कमाने वाली मानी जाती थीं, तो गणिकाएँ विशेष रूप से गाने एवं नाचने की कला का ही प्रदर्शन करती थीं।

मृच्छकटिकम् में वेश्यावृति अपनाने वाली गणिकाओं का स्थान समाज में अन्य साधारण लोगों से श्रेष्ठ था। गायन, वादन और संगीत के प्रेमी लोग गणिकाओं के प्रति आकृष्ट रहा करते थे और उनके यहाँ जाया-आया करते थे। नागर जीवन के आमोद-प्रमोद और आह्लाद-उल्लास का यह वर्ग एक बहुत बड़ा आकर्षण भी माना जाता था। गणिका का जीवन संगीत और ललित कला का सम्मिश्रण स्वरूप था, जो उसका प्रधान व्यवसाय भी था। अपने आगमन, सौंदर्य और संगीत-प्रदर्शन से वह लोगों को आकृष्ट करती थी तथा श्रेष्ठ जनों के मानस में स्थायी प्रभाव स्थपित कर सकने में समर्थ थी। अतः जन-जीवन के सांस्कृतिक कार्य-कलाप तथा विलासमय जीवन की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी थी।

वेश्याएं सम्पत्तिशालिनी बन जाती थीं और भव्य एवं सुसज्जित प्रासाद भी रखती थीं। गणिका वसन्तसेना के घर में प्रचुर सम्पत्ति भरी थी। उसका घर कुबेर के घर का एक खण्ड सा मालूम पड़ता है। उसके घर की अनुपम समृद्धि देखकर विदूषक कहता है कि क्या यह वेश्या का घर है? अथवा कुबेर के महल का एक हिस्सा है?[2] उसका निवास कई खण्डों का एक विशाल प्रासाद है।[3]

---

1 'यस्यार्थास्तस्य सा कान्ता, धनहार्यो ह्यसो जनः' -मच्छ. अङ्क 5-9, पृ. 264

2 किं तावद्गणिकागृहं अथवा कुबेरभवनपरिच्छेद इति। मच्छ., अङ्क 4, पृ. 306

3 मच्छ., अङ्क 4

वेश्याएं धनी व्यक्तियों से धन चूसकर अत्यन्त समृद्ध हो जाती थीं। ये धनिकों के धन से प्रेम करती थीं न कि धनी व्यक्तियों से। ये अत्यन्त लोभी एवं असत्य बोलने वाली होती थीं। एक स्थल पर विदूषक कहता है कि लोभ न करने वाली वेश्या का उम्मीद करना मुश्किल है।[1]

एक स्थान पर चारुदत्त विदूषक से कहता है कि जिस आदमी के पास धन है उसी की वह प्रिया है। क्योंकि यह जन वेश्या धन के द्वारा ही वश में होती है।[2] इससे भी यह स्पष्ट होता है कि वेश्याओं के लिए धन ही महत्त्वपूर्ण था।

मृच्छकटिकम् में अधिकतर वसन्तसेना के लिए गणिका शब्द का प्रयोग किया गया है। कुछ ही स्थानों पर उसे वेश्या कहा गया है। गणिका और वेश्याओं से सम्बन्ध समाज में अच्छा नहीं माना जाता था। नवम अङ्क में न्यायाधीश घारुदत्त से पूछता है- आर्य! वेश्या तुम्हारी मित्र है? [3] तब चारुदत्त को लज्जा आ जाती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वेश्याओं को समाज में अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। पंचम अङ्क में विदूषक चारुदत्त से कहता है कि मैं ब्राह्मण होकर शिर रखकर विनती करता हूँ- "आप अपने को बहुत सी कठिनाइयों से भरे हुए वेश्या के इस संग से हटा लें। वेश्या तो जूते के भीतर घुसी हुई कङ्कड़ी के समान बाद में दुःख से निकाली जाती है।[4]

---

1 'अलुब्ध गणिकेति दुष्करमेते संभाव्यन्ते। ' मच्छ., अङ्क 5, पृ. 321

2 'यस्यार्थास्तस्य सा कान्ता धनहार्यो ह्यसौ जनः। मच्छ., अङ्क 5, पृ. 326

3 अधिकरणिकः आर्य! गणिका तव मित्रम् ? मच्छ., अङ्क 9, पृ. 595

4 'गणिका नाम पादुकान्तरप्रविष्टेव लेष्टुका दुःखेन पुनर्निराक्रियते।' मच्छ., अङ्क 5,
पृ. 324

प्रथम अंक में विट वसन्तसेना से कहता है कि वेश्यालय के जीवन को युवकों की सहायता पर आश्रित समझो। सोचो, तुम मार्ग में उत्पन्न हुई लता के समान वेश्या हो। तुम बाजार में बेची जाने वाली वस्तु के समान, धन के द्वारा ग्रहण करने योग्य शरीर धारण करती हो। अतः, हे भद्र स्त्री! प्रिय और अप्रिय दोनों के साथ समान व्यवहार करो।[1] विट के इस कथन से यह पता चलता है कि वेश्यालय में सामान्यतः युवक लोग जाते थे एवं धन के द्वारा ही वेश्याओं का उपभोग किया जा सकता था। धन लेकर लोगों को सुख देना गणिका का धर्म माना जाता था।

समाज में कतिपय गणिकाएं 'वेश्या' अभिधा का अपवाद भी थीं जो धन की अपेक्षा गुणों का सम्मान करती थीं। वसन्तसेना के चरित्र से ऐसा ही आभास होता है। वह निर्धन चारुदत्त को प्रेम करती है। शकार के द्वारा भेंट किये गये दस हजार सोने की मुद्राओं के अलंकारों को भी ठुकराने में उसे हिचक नहीं है।[2]

चारुदत्त द्वारा रोहसेन को लेकर घर में जाने की प्रेरणा पर वह स्वयं अपने आप कहती है- तुम्हारे घर के भीतर प्रवेश करने के योग्य मैं नहीं हूँ[3] इससे यह ज्ञात होता है कि वेश्याओं को सब व्यक्तियों के घर के अंदर जाने की अनुमति नहीं थी। वह चारुदत्त से कहती भी है कि अनुचित भूमि में

---

1 'तरुणजनसहायश्चिन्त्यतां वेशवासो, विगणय गणिका त्वं मार्गजाता लतेव। वहसि हि धनहार्यं पण्यभूतं शरीरं, सममुपचर भद्रे सुप्रियं वा प्रियं वा।। मच्छ., अङ्क 1-31, पृ. 62

2 मच्छ., अङ्क 4, पृ. 239

3 'वसन्तसेना (स्वगतम्) मन्दभागिनी खल्वहं तवाभ्यन्तरस्य।' मच्छ., अङ्क 1, पृ. 104

आरोहण करने से अपराधिनी मैं शिर से प्रणाम करके आर्य को प्रसन्न करती हूँ।[1]

चतुर्थ अंक में सम्भवतः वसन्तसेना ने अपना बनाया हुआ ही चारुदत्त का चित्र मदनिका को दिखाया है, जिससे स्पष्ट होता है कि वेश्याएं नृत्य, संगीत के साथ-साथ चित्रकारी में भी सिद्धहस्त होती थीं।

उस समय गणिकाओं या वेश्याओं का एक वर्ग ऐसा भी था जो अपने परम्परागत एवं घृणित आचरण से विमुख हो रहा था। चूँकि कुल-वधुओं को परिवार एवं समाज में काफी सम्मान प्राप्त था, इसलिए गणिकाएं भी कुल-वधू का पद प्राप्त करने के लिए लालायित रहती थीं। चतुर्थ अंक में शर्विलक मदनिका से कहता है कि "वसन्तसेना को भली भाँति देख लो और शिर झुका कर प्रणाम कर लो। जिन की कृपा से तुमने दुर्लभ बहू शब्द रूप घूँघट पाया है।"[2]

इस प्रकार मृच्छकटिकम् के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उस समाज में सहृदय, क्रूर, छली, लोभी आदि अनेक प्रकार की वेश्याएं एवं गणिकाएं थी। वसन्तसेना ऐसी उच्चरित्रा और गुण सम्पन्न गणिका थी जो गणिका वर्ग के लिए आदर्श थी। किन्तु ऐसी सच्चरित्रा, गुणी, नृत्यसंगीत में दक्ष और प्रतिभासम्पन्न गणिकाएं बहुत कम हुआ करती थीं।

---

1 'एतेनानुचितभूमिकारोहणेनापराद्धाऽऽयं शीर्षेण प्रणम्य प्रसादयामि।' मच्छ., अङ्क 1, पृ. 110

2 'सदृष्टः क्रियतामेष शिरसा वन्द्यतां जनः।
यत्र ते दुर्लभं प्राप्तं वधूशब्दावगुण्ठनम्।।' मच्छ., अङ्क 4/24

2. दशकुमारचरितम् में वर्णित गणिका-जीवन एवं वेश्यावृत्ति

दशकुमारचरितम् में इस वर्ग के लिए वारवनिता, वारयुवति,[1] गणिका तथा रूपाजीवा[2] आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। वेश्याएं एवं गणिकाएं उस समय सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थीं। व्यवहार में गणिका तथा वेश्या में कोई खास भेद नहीं था। सम्भवतः सामान्य वेश्याओं में श्रेष्ठ, रूप, शील और गुणों से युक्त वेश्या गणिका कही जाती थी। समाज का एक वर्ग ऐसा था जो इनके सानिध्य में जाकर इनके व्यवसाय को प्रोत्साहित करता था। इसका प्रधान कारण लोगों की काम-जनित भावना, संगीत-नृत्य के प्रति आकर्षण तथा सौदंर्य-पिपासा थी। दशकुमारचरितम् में काममञ्जरी एवं रागमञ्जरी के लिए अनेक स्थलों पर गणिका[3] शब्द प्रयुक्त हुआ है, कहीं-कहीं वेश्या[4] का भी प्रयोग हुआ है।

समाज में गणिकाओं और रूपाजीवाओं का विशिष्ट स्थान था और बहुत सी स्त्रियाँ नृत्य, वादन और संगीत द्वारा जन-साधारण का मनोरञ्जन करती थीं। ऐसी स्त्रियों को समाज में सम्मानजनक स्थान भी प्राप्त था। ये सुन्दरी, बहुदर्शनीय तथा गायन-वादन और नृत्य में प्रवीण होती थीं। कला एवं साहित्य के एक बहुत बड़े क्षेत्र में उनकी उपलब्धियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। विशेषतः उन्हें दृश्यकला, संगीत, नृत्य, चित्रकारी तथा नाट्य-कौशल में विशेष स्थान प्राप्त था। इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि उस समय के गणिकाओं की माताओं का अपनी पुत्रियों को शुरू से ही परम्परागत शिक्षा तथा अभ्यास देकर विकसित करना कर्त्तव्य होता था, जैसा कि

---

1 झा विश्वनाथ दश., उ. 2 पृ. 18

2 वही, पृ. 59

3 वही, पृ. 19, 22, 24, 33

4 वही, 35

दशकुमारचरितम् से संकेत मिलता है। गणिका की माँ का यह उत्तरदायित्व था कि वह अपनी लड़की के बचपन से ही उसकी सुन्दरता तथा उसके शरीर को सुन्दर एवं सुगठित रखने के लिए विशेष यत्न करे तथा उन्हें अपने व्यवसाय के अनुरूप आचार संहिता, नृत्य, संगीत, ज्ञान तथा साधारण विज्ञान से परिचित करावे।[1] दण्डी का कथन है कि रूपाजीवा की प्रधान वस्तु आभूषण है।[2]

गणिका का प्रधान उद्देश्य जनसाधारण के मनोरंजन, आमोद-प्रमोद के बदले धन वसूल करना था। समाज में वेश्या समाज काफी समृद्ध हो गया था। सही व गलत रास्ते से अर्जित इस धन से समाज में सम्मानित हो रही थीं, साथ ही उनका धनिक वर्ग से सान्निध्य भी उनकी उच्च स्थिति बनाये रखने में सहायक हो गया था। शहर के मुख्य भाग में गणिकाओं के विशाल भवन थे, जिनमें सुख-समृद्धि की सभी सामग्रियाँ उपलब्ध थीं। काममञ्जरी द्वारा महर्षि मारीचि को बैलगाड़ी में बिठाकर उन्हें नगर के मध्य में स्थित अपने सुन्दर महल में लाने का प्रसंग इस तथ्य की पुष्टि कर देता है।[3]

गणिका अथवा वेश्या वर्ग को यह सारा धन धनिक वर्ग से प्राप्त होता था। गणिका को धनी व्यक्तियों के धन से ही प्रेम था न कि उनसे। सामाजिक रूप से उन्हें धन वसूनले का अधिकार प्राप्त था।[4]

एक स्थल पर गणिका माता के कथन[5] से यह स्पष्ट होता है कि धन लेकर लोगों को सुख देना गणिका का धर्म था तथा उसे किसी भी स्थिति में

---

1 दश. उ. 2, पृ. 19, 20, 21, 22

2 'आकल्पसारो हि रूपाजीवाजनः।' दश. उ. 2, पृ. 59

3 दश., उ. 2, पृ. 29

4 दश., उ. 2, पृ. 21

5 दश., उ. 2 पृ. 22

माँ को नाराज नहीं करना चाहिए तथा बिना धन के किसी के साथ भोग करना धर्म विरुद्ध था।

गणिकाएं सामान्यतः धन की लोभी होती थीं। वे प्रायः धनिकों का संसर्ग पंसद करती थीं और सब तरह से उनका धन हरण करके उनको छोड़ देती थीं। दशकुमारचरितम् में एक धनी युवक विरूपक की घटना से इस कथन की पुष्टि हो जाती है, जिसमें दो भाइयों विरूपक जो कुरूप था किन्तु धनवान था एव सरूपक जो सुन्दर था किन्तु निर्धन था, में से गणिका काममञ्जरी धनवान किन्तु कुरूप विरूपक का चुनाव करती है एवं उसका सारा धन छल से ले कर उसे घर से बाहर निकाल देती है।[1]

कुछ गणिकाएं धन की अपेक्षा गुणों का सम्मान करती थीं। दशकुमारचरितम् के समाज में यद्यपि पुरुषों द्वारा गणिकाओं से विवाह भी कर लिये जाते थे। फिर भी उनको उतना सम्मान नहीं मिल पाता था, जितना कि कुलवधूओं को मिलता था। गृहस्थ जीवन की लालसा में कुछ गणिकाएँ अपने वेश्या धर्म का निर्वाह नहीं कर पाती थीं। वैसे उन्हें वेश्या धर्म छोड़ने से भी कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। किसी गणिका को जीवनसाथी बनाने में सभ्य पुरुष झिझकते भी थे। सम्भवतः कुल नारियों का आचरण अपनाना गणिका के धर्म के विरुद्ध माना जाता था। दशकुमारचरितम् में एक प्रसंग में गणिका रागमञ्जरी कहती है कि "मेरा शुल्क धन नहीं, गुण हैं और बिना विवाह किये यौवन किसी को भी नहीं

---

1 'सुभगमन्येन च मया स्वधनस्य स्वगृहस्य स्वगणस्य स्वदेहस्य स्वजीवितस्य च सैवेश्वरीकृता। कृतश्चाहमनया मलमल्लकशेषः। हृतसर्वस्वतया चापवाहितः प्रपद्य।' दश, उ. 2, पृ. 33

सौपुँगी।[1] इस घोषणा को धनमित्र गणिका धर्म के विरुद्ध बताता है।[2] रागमञ्जरी की इस घोषणा के विरुद्ध उसकी माँ तथा बहन काममञ्जरी राजा से फरियाद करती हैं कि "यह तो अपने कुल-धर्म का उल्लंघन कर धन के प्रति उपेक्षाशील होकर गुणों के हाथ ही अपना यौवन बेचना चाहती है। यह कुल नारी की परम्परागत चाल ही चलेगी।[3] इससे स्पष्ट होता है कि गणिकाएं जो दृढ़प्रतिज्ञ होती थीं, अपना परम्परागत धर्म छोड़कर गृहस्थ बन सकती थीं। इसके लिए राजा की आज्ञा की आवश्यकता पड़ती थी। कभी-कभी राजा भी गणिका को वधू पद से गौरव प्रदान करते थे। इस प्रकार कुछ गणिकाएं धन की अपेक्षा साधारण गृहस्थ जीवन बिताना ही पसंद करती थीं, यह स्पष्ट होता है।

3. विमर्श

समानता- मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि दोनों ही समाजों में वर्णित गणिका एवं वेश्या वर्ग का स्थान समाज में महत्त्वपूर्ण था। दोनों ही ग्रन्थों में गणिका एवं वेश्या में कोई खास भेद नहीं था। गणिकाएं विशेष रूप से नृत्य-गीत एवं कला का ही प्रदर्शन करती थीं एवं वेश्याएं अपने रूप यौवन द्वारा धन कमाने वाली मानी जाती थीं। वेश्या से रूप, शील और गुणों में श्रेष्ठ गणिका कहीं कही जाती थी।

---

[1] "गुणशुल्काहम्, न धनशुल्का। न च पाणिग्रहणादृतेऽन्यभोग्यं यौवनम् इति।' दश., उ. 2, पृ. 49

[2] 'किं तु सा किल वारकन्यका गणिकास्वधर्मप्रतीपगामिना भद्रोदारेणाशयेन।' दश. उ. 2, पृ. 49

[3] 'यदियमतिक्रम्य स्वकुलधर्ममर्थनिरपेक्षा गुणेभ्य एव स्वं यौवनं विचिक्रीषते। कुलस्त्रीवृत्तमेवाच्युतमनुतिष्ठासतीति।' दश. 3.2 पृ. 49-50

दोनों ही ग्रन्थों के समाजों में इस वर्ग का स्थान समाज के अन्य साधारण लोगों से श्रेष्ठ था। नगरीय जीवन के आमोद-प्रमोद का यह वर्ग बहुत बड़ा आकर्षण था। यह वर्ग गायन, वादन, संगीत के प्रेमी गणिकाओं के प्रति आकृष्ट लोगों का मनोरञ्जन करता था। गणिकाएं एवं वेश्याएं जन-जीवन के सांस्कृतिक कार्यकलाप तथा विलासमय जीवन की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी थीं।

मृच्छकटिकम् में प्रथम अंक में विट के कथन एवं दशकुमारचरितम् में द्वितीय उच्छ्वास में गणिका माता माधवसेना के कथन से यह बात स्पष्ट होती है कि दोनों ही ग्रन्थों में यह वर्ग धन लेकर ही लोगों को सुख देता था। धनी व्यक्तियों के लिए धन द्वारा ही यह वर्ग ग्रहणीय माना जाता था। वेश्याएं अत्यन्त लोभी होती थीं एवं छल-कपट से धनी व्यक्तियों का धन चूसकर अत्यन्त सम्पत्तिशालिनी बन जाती थीं। मृच्छकटिकम् में वसन्तसेना एवं दशकुमारचरितम् में काममञ्जरी के उदाहरण से यह ज्ञात होता है। वसन्तसेना के पास सुसज्जित एवं सर्वसाधनसम्पन्न प्रासाद था तथा दशकुमारचरितम् में काममञ्जरी के पास ऐसे ही भव्य प्रासाद होने का उल्लेख प्राप्त हुआ है।

दोनों ही ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि गणिकाओं एवं वेश्याओं का आवास नगर के मध्य में स्थित होता था।

दोनों ही ग्रन्थों में गणिका एवं वेश्या वर्ग के पास सामान्यतः युवक लोग ही जाते थे तथा इस वर्ग से सम्बन्ध समाज में अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था।

यद्यपि दोनों ही ग्रन्थों में इस वर्ग का उल्लेख अत्यन्त लोभी वर्ग के रूप में हुआ है तथपि इसके अपवाद भी दृष्टिगोचर होते हैं। मृच्छकटिकम् में वसन्तसेना धन की अपेक्षा गुणों को अधिक पसंद करती है और निर्धन ब्राह्मण चारुदत्त से प्रेम-विवाह करती है। दशकुमारचरितम् में भी वेश्या

रागमञ्जरी का उल्लेख हुआ है जो अपना शुल्क धन नहीं अपितु गुण मानती है।

दोनों ही ग्रन्थों में गणिकाओं का एक ऐसा वर्ग भी था जो अपने परम्परागत एवं घृणित आचरण से विमुख हो रहा था। मृच्छकटिकम् में वसन्तसेना एवं मदनिक तथा दशकुमारचरितम् में रागमञ्जरी इसका उदाहरण हैं।

दोनों ही ग्रन्थों में कुल-वधुओं का परिवार एवं समाज में काफी सम्मान था, इसलिए भी वेश्याएं अपना परम्परागत आचरण छोड़कर गृहस्थ के रूप में जीवन बिताना पसन्द करती थीं। इसके लिए उन्हें राजा से आज्ञा लेनी पड़ती थीं तथा कभी-कभी स्वयं राजा ही उनके आचरण-व्यवहार को देखकर उन्हें वधू पदवी देकर इसकी अनुमति प्रदान करते थे।

इस प्रकार दोनों ही ग्रन्थों में वर्णित गणिका एवं वेश्यावृत्ति में अत्यधिक समानता व्याप्त है।

विषमता- मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् में वर्णित समाज के अनुशीलन से गणिका एवं वेश्यावृत्ति में कुछ विषमता भी दृष्टिगोचर होती है।

मृच्छकटिकम् में इस वर्ग के लिए केवल गणिका एवं वेश्या शब्दों का ही प्रयोग मिलता है, जब कि दशकुमारचरितम् में इस वर्ग के लिए इन दो शब्दों के अतिरिक्त वारवनिता, वारयुवती, रूपाजीवा आदि अनेक शब्दों का भी प्रयोग मिलता है।

मृच्छकटिकम् में इसका उल्लेख नहीं है कि गणिका की माता का कर्त्तव्य है कि अपनी पुत्रियों को शुरू से ही परम्परागत शिक्षा तथा अभ्यास दें। इसके विपरीत दशकुमारचरितम् के द्वितीय उच्छ्वास में गणिका माता माधवसेना के प्रसंग में इस बात की स्पष्ट जानकारी हो जाती है।

दशकुमारचरितम् से यह ज्ञात होता है कि वेश्या वर्ग का यह धर्म था कि वे बिना धन लिए किसी को भी भोग न करने दें तथा धन लेने के बाद किसी व्यक्ति को इस अधिकार से वञ्चित भी नहीं किया जा सकता था। किन्तु मृच्छकटिकम् में गणिका वर्ग के लिए निर्धारित इस धर्म के विषय में शिथिलता दिखाई देती है। वसन्तसेना की माता को यह जानकारी है कि वसन्तसेना चारुदत्त से प्रेम करती है एवं चारुदत्त के प्रति अभिसरण करती है, फिर भी वह चारुदत्त को प्राणदण्ड मिलने पर उसके प्रति हार्दिक दुःख व्यक्त करती है। जब कि दशकुमारचरितम् में गणिका रागमञ्जरी की घोषणा के विरुद्ध उसकी माता तथा बहन काममञ्जरी राजा से उसकी शिकायत करती हैं।

मृच्छकटिकम् की वेश्याएं दशकुमारचरितम् की अपेक्षा अधिक उदार हैं तथा उतनी लोभी एवं क्रूर नहीं हैं जितनी कि दशकुमारचरितम् में वर्णित हैं। मृच्छकटिकम् में गणिकाओं द्वारा पुरुषों का धन हरण एवं उन्हें छलने का उदाहरण भी दशकुमारचरितम् की अपेक्षा सामान्यतः कम प्राप्त होता है।

दशकुमारचरितम् में जब यह वर्ग कुल-नारियों जैसा आचरण अपनाता है तो यह गणिका-धर्म के विरुद्ध माना जाता है एवं राजा से उसकी शिकायत की जाती है, जब कि मृच्छकटिकम् में इस वर्ग द्वारा कुल-नारियों जैसा आचरण अपनाया जाना सामान्य बात मानी जाती है एवं उसके इस आचरण को धर्म-विरुद्ध मानने का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। स्वयं राजा द्वारा वसन्तसेना को वधू पद प्रदान करने का उल्लेख मृच्छकटिकम् में प्राप्त होता है।

मृच्छकटिकम् में इस वर्ग को सब के घर के अंदर प्रवेश करने की अनुमति नहीं है। चारुदत्त द्वारा जब वसन्तसेना को रोहसेन को कक्ष के अन्दर ले जाने की आज्ञा दी जाती है तो वसन्तसेना कक्ष के अन्दर प्रवेश नहीं करती है। दशकुमारचरितम् में ऐसा कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

इसप्रकार दोनों ग्रन्थों में वर्णित गणिका एवं वेश्यावर्ग की दशा में कुछ अन्तर भी दृष्टिगोचर होते हैं।

निष्कर्ष- मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् में वर्णित गणिका एवं वेश्या वर्ग के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि दोनों ग्रन्थों में इनकी दशाएँ लगभग समान हैं। यद्यपि कुछ अन्तर भी दिखाई देता है क्योंकि दोनों के रचना-काल में लगभग सौ वर्षों का अन्तर है।

मृच्छकटिकम् में इस वर्ग के लिए केवल गणिका एवं वेश्या शब्दों का उल्लेख है किन्तु दशकुमारचरितम् में वारवनिता, वारयवुती, रूपाजीवा आदि अनेक शब्दों के उल्लेख हैं जो केवल पर्यायवाची शब्द ही हैं एवं इससे इनके अर्थ में कोई अन्तर नहीं होता। दशकुमारचरितम् के अन्य तत्कालीन ग्रन्थों में भी इस वर्ग के अनेक पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख होने से यह कहा जा सकता है कि इस समय तक इस वर्ग को अनेक नामों से सम्बोधित किया जाने लगा था।

दशकुमारचरितम् में उल्लिखित है कि गणिका की माता का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी पुत्रियों को परम्परागत शिक्षा एवं अभ्यास कराये, किन्तु मृच्छकटिकम् में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। मृच्छकटिकम् से पूर्व के ग्रन्थ कामसूत्र में वात्स्यायन द्वारा इस प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है, जिससे स्पष्ट होता है कि इस वर्ग के उद्भव के समय से ही गणिकाओं की माताएं इस प्रकार के कर्त्तव्यों का निर्वाह करती रही होंगी।

दशकुमारचरितम् में वेश्या वर्ग का भी धर्म वर्णित है, जिसके अन्तर्गत वेश्या बिना धन लिए किसी भी पुरुष का मनोरञ्जन नहीं कर सकती थी, जब कि मृच्छकटिकम् में वेश्याओं के इस धर्म का विशेष उल्लेख नहीं है। इसके अतिरिक्त मृच्छकटिकम् की अपेक्षा दशकुमारचरितम् में यह वर्ग अधिक क्रूर एवं लोभी रूप में चित्रित हुआ है, जिससे यह संकेत मिलता है कि परवर्ती

काल में यह वर्ग अधिक पतन में चला गया एवं उसकी सामाजिक स्थिति भी गिर गई।

मृच्छकटिकम् में वर्णन मिलता है कि वेश्याएँ सभी व्यक्तियों के घरों में प्रवेश नहीं कर सकती थी, क्योंकि चारुदत्त द्वारा रोहसेन को कक्ष के अंदर ले जाने के लिए कहने पर भी वसन्तसेना उसे घर के अंदर नहीं ले जाती। यद्यपि दशकुमारचरितम् में इस तरह का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है तथपि यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय तक उनकी इस दशा में कोई सुधार हुआ होगा।

दोनों ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट होती है कि परवर्तीकालीन ग्रन्थ दशकुमारचरितम् के समय तक इस वर्ग की दशा मृच्छकटिकम् के रचना-काल से अधिक गिरी हुई प्रतीत होती है। तत्कालीन अन्य ग्रन्थों से भी इसकी पुष्टि हो जाती है।

पूर्वकाल में उनकी स्थिति समाज में परवर्तीकाल की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ थी। महाभारत के अध्ययन से ज्ञात होता है कि गान्धारी जब गर्भवती थी तो उसकी परिचर्या एवं सेवा करने के लिए एक वेश्या को रखा गया था एवं उसे घर के अंदर जाने की अनुमति थी। जब कि मृच्छकटिकम् के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उन्हें घर के अन्दर जाने की अनुमति सामान्यतः नहीं थी। श्री कृष्ण जब शान्ति-स्थापनार्थ वार्ता करने के लिए कौरवों के यहाँ पधारे थे तब वेश्याओं ने उनका स्वागत किया था। कभी-कभी सेनाओं के साथ भी वेश्याएं चलती थीं। संघर्ष के लिए सन्नद्ध पाण्डवों की सेना में वेश्याएं भी रहा करती थीं।[1]

---

1 महाभारत, 1, 118.59; उद्यो.प. 51.64, 151.58

बौद्धकाल में भी इस वर्ग को अत्यन्त सम्मान प्राप्त था। इनकी कला का यथोचित सम्मान किया जाता था। राजमहोत्सव एवं प्रजारंजनार्थ इनके नृत्य एवं संगीत का कार्यक्रम होता था। राज्य की ओर से किसी-किसी गणिका का 'गणिकाभिषेक' भी होता था जो उसके सम्मान को प्रकट करता था। किन्तु मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् के युग तक आते-आते इनकी दशा में अधिक गिरावट आती गई, जिसका वर्णन हमें इन दोनों ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इस समय तक इन्हें सामान्यतः भोग-विलास की वस्तु समझा जाने लगा था, यद्यपि किसी-किसी गणिका को सम्मान भी प्राप्त होता था, किन्तु उनकी संख्या अत्यन्त कम थी। इस प्रकार समय बीतने के साथ-साथ इस वर्ग की दशा में क्रमिक रूप से ह्रास होता गया एवं वर्तमान समय में तो ये केवल उपभोग की वस्तु बन गई है, तथा समाज में इनको अत्यन्त घृणा के साथ देखा जाता है।

पञ्चम अध्याय

अध्याय-5

(क) 1. मृच्छकटिकम् में वर्णित शिक्षा-व्यवस्था

यद्यपि मृच्छकटिकम् में शिक्षा के सम्बन्ध में कोई विशेष उल्लेख नहीं हुआ है, तथपि उसके अनुशीलन से इस सम्बन्ध में थोड़ी-बहुत जानकारी अवश्य हो जाती है। इसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण लोग वेदों का अध्ययन करते थे। वे ऋग्वेद, सामवेद, यज्ञ करने की विधि तथा कर्मकाण्ड का ज्ञान रखते थे। रामायण, महाभारत तथा कतिपय पुराणों का प्रचलन था। शकार द्वारा इसके पात्रों का कई बार उल्लेख किया गया है, विशेषतः प्रथम अङ्क में।[1] मनुस्मृति[2] एवं गीता का अध्ययन किया जाता था। उच्चवर्ग में शिक्षा का पर्याप्त प्रसार था, किन्तु निम्नवर्ग में इसका अभाव था। शकार जो कि निम्न वर्ग का था वह निरक्षर था। राजा एवं न्यायाधीशों के लिए ब्राह्मणों की तरह उच्च शिक्षा आवश्यक थी। लेखन कला का उस युग में पर्याप्त विकास दृष्टिगोचर होता है। अभियोग-सम्बन्धी वैधानिक विवरण भी लेखबद्ध किये जाते थे।

मृच्छकटिकम् के आरम्भ में शूद्रक का परिचय बताया गया है कि जो इस प्रकार है- शूद्रक ऋग्वेद, सामवेद, गणित, नृत्यगीत आदि चौंसठ कलाओं, नाट्यशास्त्र एवं हस्तिसञ्चालन की शिक्षा को प्राप्त करके, भगवान् शङ्कर की कृपा से अज्ञान रूपी अन्धकार से रहित नेत्रों को पा करके, अपने पुत्र को राजा के रूप में देखकर अर्थात् अपने पुत्र को राजसिंहासन पर बैठाकर एवं प्रचुर सम्पत्ति लगने वाले अथवा परम उन्नति करने वाले

---

1 मृच्छ., अङ्क 1-22, 25, 29

2 मृच्छ., अङ्क 9-39

'अश्वमेध' यज्ञ को करके, सौ वर्ष दस दिन की आयु पाकर अग्नि में प्रविष्ट हो गये।[1] इससे यह ज्ञात हो जाता है कि उस समय के पाठ्यक्रम में सभी प्रकार की शिक्षा सम्मिलित थी।

न्यायाधीशों को मनुस्मृति एवं धर्मशास्त्रों का ज्ञान होना अत्यावश्यक था। धर्मशास्त्रों को सामाजिक नियमों की संहिता माना जाता था। नवम अङ्क में अधिकरणिक चारुदत्त को दण्ड देते हुए मनु का उल्लेख करता है- 'यह ब्राह्मण पापी होने पर भी वध करने के योग्य नहीं है, ऐसा मनु ने कहा है, किन्तु समूची सम्पत्ति के साथ इसे राष्ट्र से बाहर निकाल देना चाहिए।'[2] इससे स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन स्मृति-ग्रन्थों का अध्ययन न्याय के क्षेत्र में आवश्यक था।

शूद्रक को गणित के साथ-साथ ज्योतिष का भी अच्छा ज्ञान था। समाज में ज्योतिष विद्या का बहुत महत्त्व था। ज्योतिषशास्त्र में गणित की अत्यधिक आवश्यकता होती है अतः ज्योतिष एवं गणित दोनों का अत्यधिक महत्त्व था। नवम अङ्क में अधिकरणिक कहता है कि 'मङ्गल ग्रह जिसका विरोधी है, ऐसे दुर्बल बृहस्पति ग्रह के समीप पुच्छलतारा के समान यह (जेवरों का गिरना) दूसरा ग्रह प्रकट हुआ है।[3]

---

1 'ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षां
ज्ञात्वा शर्वप्रसादाद्व्यपगमतिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य।
राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा
लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः।।' मृच्छ. 1-4

2 "अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह।।" मृच्छ. 9-39

3 "अङ्गारविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य वृहस्पतेः।
ग्रहोऽयमपरः पार्श्वे धूमकेतुरिवोत्थितः।।" मृच्छ. 9-33

मृच्छकटिकम् में दो विद्याएं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, चौर्यविद्या तथा हस्तिविद्या। शूद्रक हस्तिविद्या का पारंगत पण्डित था। ब्राह्मण शर्विलक चौर्यविद्या का ज्ञाता था। चौर्यशास्त्र पूर्णविकसित प्रतीत होता है। भगवान् शङ्कर के पुत्र कार्तिकेय को चोरों का देवता माना गया है। सन्धिच्छेद के विभिन्न प्रकार थे और कनकशक्ति, भास्करनन्दी तथा योगाचार्य इस शास्त्र के आदि आचार्य माने जाते थे।[1] चतुर्थ अङ्क में शर्विलक मदनिका से कहता है कि 'मैं फूली हुई लता के समान जेवरों से सजी हुई स्त्री को नहीं लूटता हूँ। ब्राह्मण के लिए धन एवं यज्ञ के लिए निकाल कर रखे हुए सोना को भी नहीं चुराता हूँ। मैं कहीं धाय की गोद में स्थित बच्चे को भी छीनकर नहीं ले जाता हूँ।[2] इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक चोरों की भी आचार-संहिता बन गई थी। किस दीवाल में किस प्रकार सन्धिच्छेद हो, इसके लिए विस्तृत निर्देश चौर्यशास्त्र में सन्निविष्ट होंगे- ऐसा जान पड़ता है।[3] 'योगरोचन' नामक एक प्रकार का लेप था जिसको शरीर में लगा लेने पर मनुष्य न तो दिखलाई पड़ता था और न ही शस्त्र आदि के मारने से चोट ही लगती थी। एक प्रकार का 'अग्निकीट'[4] का प्रयोग होता था जिसे फेंक देने पर घर के अन्दर का दीपक बुझ जाता था। एक प्रकार के बीज होते थे जो जमीन पर डालने से

---

1 "नमो वरदाय कुमारकार्तिकेयाय, नमः कनकशक्तये ब्रह्मण्यदेवाय देवव्रताय, नमो भास्करनन्दिने, नमो योगाचार्याय यस्याहं प्रथमः शिष्यः।" मृच्छ., अङ्क 3, पृ. 202

2 "नो मुष्णाम्यबलां विभूषणवतीं फुल्लमिवाहं लतां......नित्यं स्थिता।।" मृच्छ., अङ्क 3-4

3 "पद्मव्याकोशं भास्करं बालचन्द्रं वापी विस्तीर्णं स्वस्तिकं पूर्णकम्भम्। .....।।" मुच्छ. 3-13

4 मृच्छ., पृ. 211

फैल जाते थे और जमीन के अन्दर छिपे धन के बोर में ज्ञात करा देते थे।[1] द्यूतविद्या का भी विशेष उल्लेख मृच्छकटिकम् में प्राप्त होता है।

मृच्छकटिकम् में पशु, पक्षी, कीटाणु आदि जीवधारियों का ज्ञान तथा वनस्पति विज्ञान का पर्याप्त विकास दृष्टिगोचर होता है। सम्पन्न लोग अच्छे पशु-पक्षियों को अपने यहाँ आश्रय देते थे। हस्तिविद्या की चर्चा प्रारम्भ में ही शूद्रक के परिचय में आया है। शूद्रक हस्तिविद्या में बड़ा दक्ष था तथा युद्ध में शत्रुओं के हाथियों को वश में करना जानता था। सेवक कर्णपूरक भी उन्मत्त हाथी को वश में करना जानता था। प्रथम अङ्क में विट शकार से कहता है कि हाथी खम्भे में बाँधकर वश में किया जाता है, घोड़ा लगाने से वश में किया जाता है और स्त्री हृदय से वश में की जाती है। यदि यह नहीं है तो जाइये।[2]

इस प्रकार मृच्छकटिकम् के अनुशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि तत्कालीन साहित्य में शिक्षा का जो रूप प्रचलित था, मृच्छकटिकम् में उसका अल्प आभास ही हो पाता है। तत्कालीन समाज एवं साहित्य में गुरुकुल की प्रणाली का उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु मृच्छकटिकम् के समाज में गुरुकुल का कोई उल्लेख नहीं मिलता, न ही गुरु का कोई उल्लेख मिलता है। विशेष रूप से शूद्रक के परिचय में ही पाठ्य-विषयों का कुछ आभास प्राप्त होता है, जब कि तत्कालीन समाज में शिक्षा की व्यवस्था अधिक व्यापक थी।

---

1 मच्छ., पृ. 209

2 "आलाने गृह्यते हस्ती, वाजी वल्गासु गृह्यते।
हृदये गृह्यते नारी यदीदं नास्ति गम्यताम्।।" मृच्छ. 1-50

2. दशकुमारचरितम् में वर्णित शिक्षा-व्यवस्था

दशकुमारचरितम् के अनुशीलन से यह बात स्पष्ट होती है कि उस समय वर्तमान युग की भाँति शिक्षा प्राप्त करने के लिए राज्य की ओर से संगठित शिक्षण संस्थाएँ नहीं थीं। गुरु व्यक्तिगत रूप से स्वयं अपने शिष्यों को शिक्षा दिया करते थे। शिक्षा केन्द्रों में आश्रमों का विशिष्ट स्थान था जो कोलाहल और अशान्त वातावरण से परे शान्त अरण्यों में स्थित थे। आश्रम विद्या के सर्वोत्कृष्ट केन्द्र थे। ऐसे शिक्षण केन्द्रों की संख्या ज्यादा थी, जो शहर से थोड़ी दूर किसी प्राकृतिक रम्य स्थानों में चलाये जाते थे। शिक्षक प्रायः अपने गृहों में आश्रम रूप में शिक्षण-व्यवस्था का सञ्चालन करते थे। दशकुमारचरितम् में सिर्फ 'उज्जयिनी' में स्थित एक शिक्षा केन्द्र का उल्लेख पाते हैं, जब कि एक छात्र को शिक्षा के लिए श्रावस्ती से उज्जयिनी[1] जाने को कहा जाता है।

गुरु के प्रति छात्र की भक्ति एवं सम्मान तथा छात्र के प्रति गुरु की स्नेह एवं उत्तरदायित्व की भावना बलवती थी। दण्डी ने प्रायः शिक्षक के सन्दर्भ में गुरु शब्द का प्रयोग किया है। दण्डी ने आचार्य एवं उपाध्याय में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाया है।

दशकुमारचरितम् में सिन्धु एवं म्लेच्छ आदि लिपियों के उल्लेख से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि उस समय तक लिखने की कला का विकास हो गया था। दशकुमारचरितम् से ज्ञात होता है कि उस समय शिष्य की योग्यता का निर्धारण उसकी स्मरण शक्ति पर होता था, तथा शिक्षण मौखिक ही दिया जाता था। उपवर्ष की कहानी में दण्डी ने बताया है कि जो वैदिक

"एतदर्थमेव विद्यामयं शुल्कमर्जितुं गतोऽभूदवन्तिनगरीमुज्जयिनीमस्म-द्वैवाह्यकुलजः कोऽपि विप्रदारकः।" - दश. उ. 5, पृ. 159

2. दशकुमारचरितम् में वर्णित शिक्षा-व्यवस्था

दशकुमारचरितम् के अनुशीलन से यह बात स्पष्ट होती है कि उस समय वर्तमान युग की भाँति शिक्षा प्राप्त करने के लिए राज्य की ओर से संगठित शिक्षण संस्थाएँ नहीं थीं। गुरु व्यक्तिगत रूप से स्वयं अपने शिष्यों को शिक्षा दिया करते थे। शिक्षा केन्द्रों में आश्रमों का विशिष्ट स्थान था जो कोलाहल और अशान्त वातावरण से परे शान्त अरण्यों में स्थित थे। आश्रम विद्या के सर्वोत्कृष्ट केन्द्र थे। ऐसे शिक्षण केन्द्रों की संख्या ज्यादा थी, जो शहर से थोड़ी दूर किसी प्राकृतिक रम्य स्थानों में चलाये जाते थे। शिक्षक प्रायः अपने गृहों में आश्रम रूप में शिक्षण-व्यवस्था का सञ्चालन करते थे। दशकुमारचरितम् में सिर्फ 'उज्जयिनी' में स्थित एक शिक्षा केन्द्र का उल्लेख पाते हैं, जब कि एक छात्र को शिक्षा के लिए श्रावस्ती से उज्जयिनी[1] जाने को कहा जाता है।

गुरु के प्रति छात्र की भक्ति एवं सम्मान तथा छात्र के प्रति गुरु की स्नेह एवं उत्तरदायित्व की भावना बलवती थी। दण्डी ने प्रायः शिक्षक के सन्दर्भ में गुरु शब्द का प्रयोग किया है। दण्डी ने आचार्य एवं उपाध्याय में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाया है।

दशकुमारचरितम् में सिन्धु एवं म्लेच्छ आदि लिपियों के उल्लेख से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि उस समय तक लिखने की कला का विकास हो गया था। दशकुमारचरितम् से ज्ञात होता है कि उस समय शिष्य की योग्यता का निर्धारण उसकी स्मरण शक्ति पर होता था, तथा शिक्षण मौखिक ही दिया जाता था। उपवर्ष की कहानी में दण्डी ने बताया है कि जो वैदिक

---

1 "एतदर्थमेव विद्यामयं शुल्कमर्जितुं गतोऽभूदवन्तिनगरीमुज्जयिनीमस्म-द्वैवाह्यकुलजः कोऽपि विप्रदारकः।" - दश. उ. 5, पृ. 159

स्रोत वह एक बार सुनता है, उसे धारण कर लेता है। आधुनिक काल की तरह शिक्षा समाप्ति के बाद वार्षिक परीक्षा का कोई तथ्य हमें दशकुमारचरितम् में प्राप्त नहीं होता है और न शिक्षा समाप्ति के बाद कोई उपाधि दी जाती थी।

दशकुमारचरितम् में कौटिलीय अर्थशास्त्र में वर्णित चार विद्याओं, त्रयी, वार्ता, आन्वीक्षिकी और दण्डनीति का दण्डी ने स्पष्ट रूप से निरूपण किया है। त्रयी के अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अध्ययन सम्मिलित है। साधारण रूप में जिस विद्या से धर्म और अधर्म के स्वरूप का ज्ञान होता है उसे 'त्रयी' कहते हैं। खेती वगैरह के कार्य सम्बन्धित अर्थ या अनर्थ का बोध 'वार्ता' के अन्तर्गत रखा गया है। तर्कशास्त्र का ज्ञान ही 'आन्वीक्षिकी' है, जो विद्या तर्क द्वारा इन समस्त विद्याओं के महत्त्व का स्पष्टीकरण कर बुद्धि को स्थिर करती है और बुद्धि, वाणी, तथा क्रिया में निपुणता लाती है उसे 'आन्वीक्षिकी' कहते हैं। न्याय तथा अन्याय तथा राजनीति का विवेचन दण्डनीति के अन्तर्गत होता है। इन विद्याओं का प्रमति की कथा[1] में ठीक उसी रूप में प्रसंग प्राप्त होता है। विहारभद्र कहता है कि "चार तरह की राज्य विद्याएं होती हैं- त्रयी, वार्ता, आन्वीक्षिकी और दण्डनीति। पहली तीन कठिन है और फल भी उनका साधारण है, इसलिए उनका क्या करना, बस दण्डनीति पढ़ो। आचार्य विष्णुगुप्त ने चन्द्रगुप्त मौर्य के लिए उसे केवल छः हजार श्लोकों में लिख दिया है।[2] सम्भवतः शासक

---

[1] दश. उ. 5, पृ. 162

[2] "ननु चतस्रो राजविद्यास्त्रयी वार्तान्वीक्षिकी दण्डनीतिरिति। तासु तिस्रस्त्रयी-वार्तान्वीक्षिक्यो महत्यो मन्दफलाश्च, तास्तावदासताम्। अधीष्व तावद्दण्डनीतिम्। इयमिदानीमाचार्यविष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिः श्लोकसहस्रैः संक्षिप्ता।"- दश., उ. 8, पृ. 244

वर्ग के लिए इन चारों विद्याओं का ज्ञान आवश्यक था। शासक के लिए दण्डी ने दण्डनीति के ज्ञान की अनिवार्यता प्रतिपादित की है। एक आदर्श राजा के वर्णन में दण्डी कहते हैं कि जो राजा दण्डनीति का ज्ञान अच्छी तरह नहीं रखते, लोग उसके दण्ड का आदर नहीं करते। शासकों के लिए कौटिलीय अर्थशास्त्र का काफी महत्त्व था। दशकुमारचरितम् में दण्डी के अनुसार जो राजा अर्थशास्त्र का ज्ञाता नहीं होता उसे शत्रु अन्दर ही अन्दर खोखला कर देते हैं, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो।

दण्डी ने राजहंस की राजसभा के राजकुमारों के पाठ्य-विषयों का विस्तृत विवरण दिया है- समस्त लिपियों का ज्ञान, सभी देशीय भाषाओं का ज्ञान, अंगों-उपांगों सहित वेदों का ज्ञान, काव्य, नाटक आख्यायिका, आख्यान, इतिहास, चित्रकथा सहित पुराणों की विज्ञता, धर्म, ज्योतिष, न्याय, मीमांसा आदि सभी शास्त्रों की चतुरता, कौटिल्य, कामन्दक नीतिशास्त्रों की कुशलता, वीणादि सभी वाद्य कलाओं की पटुता, संगीत, साहित्य, मणि, मन्त्र, औषधि आदि में दक्षता, हाथी, घोड़े रथदि में चढ़ने की क्षमता, अनेक भाँति के अस्त्र-शस्त्र के सञ्चालन की चतुरता, चोरी, जुआ आदि कपटाचरणों में प्रवीणता आदि।[1] निश्चित रूप से यह विषय सूची अत्यन्त लम्बी है, तथपि इससे उस काल के अध्ययन के विषयों का संकेत प्राप्त तो होता ही है। दण्डी द्वारा प्रस्तुत अध्येय विषयों की सूची

---

1 "ततः सकललिपिज्ञानं निखिलदेशीयभाषापाण्डित्यं षडङ्गसहितवेद-समुदायकोविदत्वं काव्यनाटकाख्यायिकेतिहासचित्रकथासहितपुराणगणनैपुण्यं धर्मशब्दज्योतिस्तर्कमीमांसादिसमस्तशास्त्रनिकरचातुर्यं कौटिल्यकामन्द-कीयादिनीतिपटलकौशल वीणाद्यशेषवाद्यदाक्ष्यं संगीतसाहित्यहारित्वं मणिमन्त्रौषधादिमायाप्रपञ्चचुञ्चुत्व मातङ्गा तुरङ्गा दिवाहनारोहणपाटवं विविधायुधप्रयोगचणत्वं चौर्यदुरोदरादिकपटकलाप्रौढत्वं च तत्तदाचार्येभ्यः सम्यग्लब्ध्वा।" - दश. पू. 1, पृ. 46, 47, 48

छान्दोग्योपनिषद् में उपलब्ध सूची से काफी साम्य रखती है। उस समय शिक्षा पद्धति में साहित्यिक तथा उपयोगी दोनों प्रकार की विद्याओं का सुन्दर सम्मिश्रण था। दशकुमारचरितम् से ज्ञात होता है कि गुरुकुलों में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय युवक तीनों वेदों और अठारह शिल्पों का अभ्यास करते थे। इन शिल्पों में धनुर्विद्या, वैद्यक, जादू, सर्पविद्या, गणित, कृषि, पशुपालन, व्यापार आदि सम्मिलित थे।

दशकुमारचरितम् में प्रमति अपनी योग्यता के बारे में प्रचारित करता है कि "वह चारों वेद, छः वेदाङ्ग पढ़ा हुआ है। तर्कविद्या में पारंगत और चौसठ कलाओं में दक्ष है। हाथी, रथ और घोड़ों का विशेषज्ञ है, धनुर्विद्या तथा गदा युद्ध में कुशल है, निरुपम है।[1]

दशकुमारचरितम् से स्पष्ट होता है कि कुछ ब्राह्मण सैन्यविज्ञान, धनुर्विद्या आदि पर भी बल देते थे। क्षत्रिय व शासक वर्ग के छात्र धार्मिक विषयों के साथ सैन्य विज्ञान, कृषि विज्ञान एवं वाणिज्य का अनिवार्य रूप से अध्ययन करते थे। वैश्य वर्ग के लोग अधिकतर वाणिज्य, कृषि, पशुपालन आदि विषयों में अध्ययन के उत्सुक रहते थे। शूद्र तथा अन्य निम्नवर्गीय लोग अध्ययन की मुख्यधारा से विरत थे।

दशकुमारचरितम् से यह स्पष्ट होता है कि उस समय तक वचन कौशल, वाग्चातुरी तथा ज्योतिष के साथ जुआ, चौपड़ एवं चौर्य आदि कलाओं में शिक्षण दिया जाने लगा था। उस समय द्यूत एवं चोरी की कलाएं विकसित हो गई थीं। द्यूत तथा चोरी के कुछ गुण हुआ करते थे तथा लोग अपने गुरुओं से सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक प्रशिक्षण प्राप्त करते थे। उस

---

[1] "अधीती चतुर्ष्वाम्नायेषु, गृहीती षट्स्वङ्गेषु, आन्वीक्षिकीविचक्षणः, चतुःषष्टिकलागमप्रयोगचतुरः, विशेषेण गजरथतुरङ्गतन्त्रवित् इष्वसनास्त्रकर्मणि गदायुद्धे च निरुपमः....।" - दश. उ. 5, पृ. 162

समय चोरी को एक बड़ी कला माना जाता था। अपहारवर्मा कंजूसों को ठीक करने के लिए चौरशास्त्र के प्रवर्तक कर्णीसुत के मार्ग पर चलना निश्चित करता है।[1] अपहारवर्मा ने जुए के अड्डे में घुसकर पाँसे के खेल में चतुर लोगों से भेंट की। उनसे सभी पच्चीस प्रकार की जुए से सम्बद्ध-कलाओं में निपुणता का, पाँसे रखने की जगह और हाथ आदि के विषय में चालाकी की क्रियाओं का जिन्हें भाँप सकना अत्यन्त कठिन है, सिखता है।[2] दशकुमारचरितम् में ललितकथा तथा उपयोगी कलाओं में विभिन्न माया-प्रपञ्च, छल तथा हस्तकौशल शामिल कर लिया गया था। दशकुमारचरितम् में अनेक स्थलों पर शकुन तथा ज्योतिष विद्या के ज्ञाताओं का प्रसंग आता है। गोमिनी कथा में हाथ की रेखाएँ देखने वाले लक्षणज्ञ शक्तिकुमार[3] तथा पुष्पोद्भव की कथा में शकुन विद्या के ज्ञाता बन्धुपाल[4] का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। इन उल्लेखों से यह आभास मिलता है कि दशकुमारचरितम् कालीन अध्येय विषयों में शकुन, ज्योतिष, द्यूत तथा चौर्यकला का स्थान था। बहुत से लोग इन्द्रजाल व जादू की विद्या में निपुणता हासिल करके जनता का मनोरजंन करते थे। राजवाहन की मुलाकात विद्येश्वर नामक एक ऐसे व्यक्ति से होती है जो इन्द्रजाल विद्या का पण्डित है।[5]

---

1. ''नगरमाविशन्नेव चोपलभ्य लोकवादाल्लुब्धसमृद्धपूर्णं पुरमित्यर्थानां नश्वरत्वं च प्रदर्श्य प्रकृतिस्थानमून्विधास्य-कर्णीसुतप्रहिते पथि मतिमकरवम्।' दश. उ. 2, पृ. 35
2. ''अनुप्रविश्य च द्यूतसभामक्षधूर्तैः समगंसि। तेषां च पञ्चविंशतिप्रकारासु सर्वासु द्यूताश्रयासु कलासु कौशलम्, अक्षभूमिहस्तादिषु चात्यन्तदुरुपलक्ष्याणि कूटकर्माणि।' दश., उ. 2, पृ. 35
3. दश., उ. 6, पृ. 186
4. दश., पू. 4, पृ. 89
5. दश., पू. 5, पृ. 131

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि दशकुमारचरितम् में शिक्षा-व्यवस्था के सम्बन्ध में जो भी जानकारी उपलब्ध होती है लगभग वैसी ही जानकारी अन्य तत्कालीन ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती है।

3. विमर्श

समानता - दोनों ग्रन्थों में वर्णित शिक्षा-व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन करने से उनमें अनेक समानताएं दृष्टिगोचर होती है। दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि उस समय तक लेखन-कला का पर्याप्य विकास हो चुका था। यह बात मृच्छकटिकम् में अनेक स्थलों पर आये प्रसङ्गों से स्पष्ट हो जाती है। दशकुमारचरितम् में भी म्लेच्छ एवं सिन्धु लिपियों के उल्लेख से ऐसा आभास होता है।

दोनों ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उस समय तक राज्य की ओर से कोई संगठित शिक्षण संस्थाएँ नहीं थीं। आधुनिक काल की तरह शिक्षा समाप्ति के बाद वार्षिक परीक्षा का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता तथा शिक्षा समाप्ति के बाद कोई उपाधि भी नहीं दी जाती थी।

दोनों ही ग्रन्थों में अध्येय विषयों का विवरण प्राप्त होता है। मृच्छकटिकम् के प्रारम्भ में ही शूद्रक के परिचय में बताया गया है कि उसने ऋग्वेद सामवेद, गणित, नृत्यगीत आदि चौंसठ कलाओं, नाट्यशास्त्र एवं हस्तिसञ्चालन की शिक्षा प्राप्त की थी। दशकुमारचरितम् में भी राजहंस की सभा के राजकुमारों के पाठ्य-विषयों का विवरण दिया गया है। इस प्रकार दोनों ग्रन्थों के पाठ्य-विषयों में कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है।

दोनों ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास करना है। शिक्षा के अन्य उद्देश्य व्यक्ति के चरित्र का निर्माण, नागरिक तथा सामाजिक कर्त्तव्यों का ज्ञान तथा

निष्ठा एवं धार्मिकता का संचार करना था। शिक्षा का उद्देश्य न केवल आदर्शवादी अपितु अधिकांश अंशों में व्यावहारिक भी था।

दोनों ही ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि दोनों ग्रन्थों के रचना-काल में साहित्यिक एवं उपयोगी दोनों प्रकार की विद्याओं का सुन्दर सम्मिश्रण हुआ था।

दोनों ही ग्रन्थों में ज्योतिष विद्या का अत्यधिक महत्त्व दृष्टिगोचर होता है। मृच्छकटिकम् में शूद्रक को ज्योतिष विद्या का अच्छा ज्ञान था तथा दशकुमाचरितम् में लक्षणजि शक्तिकुमार को हस्तलेखा विज्ञान का ज्ञाता बताया गया है।

ज्योतिष का अध्ययन बिना गणित के अध्ययन के संभव नहीं है, अतः यह स्वाभाविक रूप से कहा जा सकता है कि शिक्षा में गणित के ज्ञान का अत्यधिक महत्त्व रहा होगा। मृच्छकटिकम् में शूद्रक को गणित का अच्छा ज्ञाता बताया गया है।

दोनों ग्रन्थों में चौर्यविद्या का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। चोरी एक बहुत बड़ी कला मानी जाती थी। चौर्यशास्त्र पूर्ण विकसित अवस्था में था। मृच्छकटिकम् में शर्विलक को चौर्यविद्या का अच्छा ज्ञान था। दशकुमारचरितम् में अपहारवर्मा भी चोरी की कला सीखता है।

दोनों ही ग्रन्थों में द्यूतविद्या का भी विवरण उल्लेखनीय है। मृच्छकटिकम् में द्यूत से सम्बन्धित अनेक चालों का वर्णन आया है। सभिक जुआ घर का अध्यक्ष है तथा संवाहक जुए में अपना सब कुछ गँवाकर बौद्ध सन्यासी बन जाता है। दशकुमारचरितम् में अपहारवर्मा जुआघर में जाकर जुए से सम्बन्धित सभी पच्चीस प्रकार की कलाओं में निपुणता प्राप्त करता है।

दोनों ही ग्रन्थों के अनुशीलन से यह आभास मिलता है, कि उस समय पशु, पक्षी, कीटाणु एवं वनस्पति विज्ञान काफी विकसित अवस्था में था।

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मृच्छकटिकम् में शिक्षा-व्यवस्था के सम्बन्ध में अल्प जानकारी उपलब्ध होने पर भी दशकुमारचरितम् की शिक्षा-व्यवस्था से कुछ साम्य अवश्य है।

विषमता - दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से दोनों ग्रन्थों की शिक्षा-व्यवस्था में कुछ विषमता भी दृष्टिगोचर होती है।

मृच्छकटिकम् में तत्कालीन शिक्षा-व्यवस्था के सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी हो पाती हैं। थोड़ी बहुत जो भी जानकारी होती भी है वह ग्रन्थ के प्रारम्भ में शूद्रक के परिचय से प्राप्त होती है। इसके विपरीत दशकुमारचरितम् में तत्कालीन समाज में प्रचलित शिक्षा-व्यवस्था से सम्बन्धित अधिक मूल्यवान जानकारी प्राप्त होती है।

मृच्छकटिकम् से अध्येय विषय का अल्पमात्रा में ही आभास मिलता है, जब कि दशकुमारचरितम् में तत्कालीन समाज में प्रचलित लगभग सभी विषयों की जानकारी मिल जाती है।

मृच्छकटिकम् में शिक्षा केंद्र के बारे में किसी भी जानकारी का स्पष्टतः अभाव है। दशकुमारचरितम् के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि गुरुकुल शिक्षा के प्रमुख केंद्र होते थे। विद्यार्थी गुरु के आश्रम में जाकर वहाँ विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करता था। गुरुकुल में शिक्षा का आरम्भ ब्रह्मचर्याश्रम में होता था, मृच्छकटिकम् में न तो गुरुकुल के बारे में कोई जानकारी हो पाती है और न ही ब्रह्मचर्याश्रम के बारे में। मृच्छकटिकम् में न तो शिक्षक का कोई उल्लेख है और न ही गुरु-शिष्य के सम्बन्ध के विषय में कोई

जानकारी प्राप्त होती है, जब कि दशकुमारचरितम् से इसके बारे में व्यापक जानकारी होती है।

मृच्छकटिकम् से ऐसा संकेत मिलता है कि समाज में लोगों को विशेष रूप से न्यायाधाशों को मनुस्मृति की जानकारी रखना आवश्यक था, क्योंकि न्यायकार्य में मनुस्मृति की सहायता नवम अंक में ली गई है, इसके विपरीत दशकुमारचरितम् से ऐसी कोई जानकारी नहीं मिलती है।

दशकुमारचरितम् में कौटिलीय अर्थशास्त्र का विशेष उल्लेख हुआ है। दण्डी के अनुसार शासक वर्ग को अर्थशास्त्र में वर्णित त्रयी, वार्ता, आन्वीक्षिकी एवं दण्डनीति का ज्ञान आवश्यक था तथा शासक वर्ग के लिए दण्डनीति का विशेष महत्त्व था। मृच्छकटिकम् में न तो कौटिलीय अर्थशास्त्र का कोई उल्लेख हुआ है और न ही उसमें वर्णित चारों प्रकार की नीतियों का।

दशकुमारचरितम् में विभिन्न उपयोगी कलाओं में माया, प्रपञ्च, छल, हस्तकौशल प्रचुर मात्रा में शामिल है, किन्तु मृच्छकटिकम् में इनका प्रयोग कम हुआ है।

दशकुमारचरितम् में इन्द्रजालविद्या का उल्लेख प्राप्त होता है तथा राजवाहन का परिचय विद्येश्वर नामक जादूगर से होता है, जिसका मुख्य कार्य लोगों का मनोरजंन जादू दिखाकर करना है। मृच्छकटिकम् में इस विद्या के बारे में कोई उल्लेख नहीं हुआ है।

इस प्रकार दशकुमारचरितम् तत्कालीन शिक्षा-व्यवस्था पर व्यापक प्रकाश डालता है, जब कि मृच्छकटिकम् से तत्कालीन शिक्षा-व्यवस्था के बारे में अल्प जानकारी ही हो पाती है।

निष्कर्ष- मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् दोनों ग्रन्थों में वर्णित शिक्षा-व्यवस्था के तुलनात्मक अनुशीलन से यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि दशकुमारचरितम् से मृच्छकटिकम् की अपेक्षा तत्कालीन शिक्षा-सम्बन्धी जानकारी अधिक होती है। इसका कारण यह नहीं है कि मृच्छकटिकम् के रचना-काल पाँचवीं सदी का उत्तरार्द्ध एवं छठी सदी के प्रारम्भ में प्राचीन काल से चली आ रही शिक्षा-व्यवस्था में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है, अपितु यह कहना उचित होगा कि मृच्छकटिकम् की कथावस्तु ही ऐसी है जिससे तत्कालीन शिक्षा के विषय में महत्त्वपूर्ण जानकारी नहीं हो पाती है। तथपि दोनों ही ग्रन्थों में अनेक समानताएं दृष्टिगोचर होती हैं जो तत्कालीन समाज में प्रचलित शिक्षा-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी ज्ञान करा देती हैं।

दोनों ग्रन्थों में वर्णित पाठ्य-विषयों की छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित पाठ्य-विषयों से समानता है, जिसका ज्ञान नारद एवं सनत्कुमार के प्रसंग से प्राप्त होता है।[1] इस प्रकार यह पाठ्य-क्रम उपनिषद् -काल के पाठ्यक्रम से भी समानता रखता है।

अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने चार नीतियों का वर्णन किया है, आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति। [2] दशकुमारचरितम् में भी इन चार नीतियों का उल्लेख करते हुए दण्डी ने कहा है कि शासक वर्ग के लिए दण्डनीति का बहुत महत्त्व है। कालिदास ने रघुवंश में चौदह विद्याओं[3] का

---

1 "ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽयेमि।" छां. उ., 7.1

2 "आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः। त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति मानवाः। त्रयी विशेषो ह्यान्वीक्षिकीति।" अर्थशास्त्र; 1.1

3 रघुवंशम्; 5.11

उल्लेख किया है तथा वात्स्यायन ने कामसूत्र में चौसठ विद्याओं[1] का उल्लेख किया है। इन विद्याओं का उल्लेख दोनों ग्रन्थों में कुछ सीमा तक हुआ है, जिससे कहा जा सकता है कि सभी विद्याएं तत्कालीन शिक्षा का विषय रही होंगी।

शास्त्रों में वर्णित छः वेदाङ्गों में ज्योतिष को नेत्र बताकर इस विद्या के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। दोनों ग्रन्थों में भी इस विद्या का प्रचुर उल्लेख होने से यह सिद्ध होता है कि उस समय भी ज्योतिष विद्या का समाज में अत्यधिक महत्त्व रहा होगा।

ब्रह्मचर्याश्रम का शिक्षा-प्रणाली से विशेष सम्बन्ध है। मनुस्मृति में वर्णित है कि बालक का सुनियोजित शिक्षा का प्रारम्भ ब्रह्मचर्याश्रम में उपनयन संस्कार के पश्चात् होता था।[2] शूद्र के अतिरिक्त सभी वर्णों के लिए उपनयन संस्कार अनिवार्य था। ब्राह्मणपुत्र के लिए आठ से दस वर्ष, क्षत्रिय पुत्र के लिए ग्यारह तथा वैश्य पुत्र के लिए बारह वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार करने का विधान मनु ने किया था।[3] अथर्ववेद में वर्णन है कि "ब्रह्मंचर्य और तप से देवता लोग मृत्यु को भी मार डालते हैं।[4] इस प्रकार ब्रह्मचर्य द्वारा मृत्यु का भी हनन किया जा सकता है। इस आश्रम में शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक शक्तियों के विकास का श्री गणेश होता था। मनु के अनुसार ब्रह्मचारी के लिए एक निश्चित चर्म, सूत्र, मेखला,

---

1 कामसूत्र, 1.3, 1.15

2 मनु. 2.36

3 वही

4 अथर्ववेद, 11/5/19

दण्ड, वसन आदि विहित थे, जिनका उपयोग व्रतों के लिए होता था।[1] दशकुमारचरितम् में इस आश्रम के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की गई है।

दशकुमारचरितम् में गुरुकुल के सम्बन्ध में भी उल्लेख प्राप्त होता है, जिसमें सभी कुमार शिक्षा प्राप्त करते हैं। अन्य ग्रन्थों में भी गुरुकुल के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त होती है। रामायण में वर्णित है कि भारद्वाज एवं वाल्मीकि के आश्रम उच्चकोटि के गुरुकुल थे।[2] महाभारत में वर्णित है कि मार्कण्डेय और कण्व ऋषि के आश्रम शिक्षा के प्रधान विद्या-स्थल थे।[3] गुप्तकाल में गुप्त अभिलेख से ज्ञात होता है कि आचार्य देवशर्मा को ब्रह्मपूरक ग्राम दान में प्रदान किया गया था।[4] बाण ने हर्षचरितम् में स्वयं लिखा है कि वह विद्या-प्राप्ति के निमित्त अनेक वर्षों तक गुरु के आश्रम में रहा था। इस प्रकार उपर्युक्त विवरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्याश्रम, उपनयन संस्कार एवं गुरुकुल प्रणाली प्राचीनकाल से ही शिक्षा से सम्बन्धित रही हैं तथा परवर्ती ग्रन्थ दशकुमारचरितम् एवं अन्य ग्रन्थों में भी इनका उल्लेख प्राप्त होता है। यद्यपि मृच्छकटिकम् में इनके सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है तथपि कहा जा सकता है कि मृच्छकटिकम् के रचना-काल में भी शिक्षा से सम्बन्धित इन व्यवस्थाओं का प्रचलन रहा होगा, क्योंकि तत्कालीन ग्रन्थों से इसकी सूचना मिल जाती है।

प्राचीनकाल से ही गुरु की अपार महिमा थी। समाज में उसकी स्थिति सर्वोच्च थी। वह पूज्य था। उसके लिए कहा गया है कि वह देवता था। यह सही बात थी कि अच्छे आचार्य के सम्पर्क से मनुष्य को सच्चे अर्थों में ज्ञान

---

1. मनु. 2.49
2. रामायण, 6.123.51; 2.55.9-11
3. महाभारत, 3.271.48; 1.70.18
4. फ्लीट, कार्पस इंस्क्रिप्शन्स इन्डिकोरम् , भाग 3, अभिलेख 56

की प्राप्ति होती थी।[1] वह अज्ञान के तिमिर से छात्र को ज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश में लाता था। वस्तुतः ज्ञानरूपी दीपक आवृत्त रहता है। गुरु दीपक के उस आवरण को हटाकर ज्ञान की किरणें विकीर्ण कर देता है।[2] गुरु की यह सम्मानजनक स्थिति तत्कालीन समाज में विद्यमान थी, क्योंकि दशकुमारचरितम् से गुरु के सम्बन्ध में कुछ जानकारी होती है।

मृच्छकटिकम् में गुरु-शिष्य के सम्बन्ध में भी कोई जानकारी प्राप्त नहीं हो पाती है, जब कि दशकुमारचरितम् एवं अन्य ग्रन्थों से इस सम्बन्ध में कुछ सूचना अवश्य मिलती है। प्राचीन काल में दोनों का सम्बन्ध पिता-पुत्र सा था। यह कहा गया था कि शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने आचार्य को पितृतुल्य और मातृतुल्य माने तथा किसी भी अवस्था में उसके प्रति द्रोह न करे।[3] हर्षचरितम् में वर्णित है कि गुरु भी शिष्य के रोगग्रस्त हो जाने पर सेवा करता है, उसे औषध देता है और उसके साथ पितृवत् व्यवहार करता है।[4] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ग्रन्थों के रचना-काल में गुरु-शिष्य सम्बन्ध प्राचीन काल के समान घनिष्ठ था।

वैदिक युग में शिक्षा प्राप्ति में कोई भेदभाव नहीं था। रामायण, महाभारत में आर्येतर और शूद्र स्वाध्याय करते थे तथा समाज में उनका उच्च स्थान था। बाद में आकर यह प्रथा बन्द हो गई तथा समाज में ब्राह्मणों ने ही शिक्षा प्रदान करने का दावा किया। केवल द्विज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को ही

---

[1] आचार्य देवो भव। तै.उ., 1.11
"आचार्यवान् पुरुषो वेद।" छा.उ., 6.14.2

[2] "यथा घटप्रतिच्छन्ना रत्नराजा महाप्रभाः।
अकिंचित्करतां प्राप्तास्तद्वद्विधाश्चतुर्दश।।" अपरार्क द्वारा उद्धृत याज्ञ. 1.2.12

[3] "तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्यत्कतमच्चनाह।" निरुक्त, 2.4

[4] बाणभट्ट, हर्षचरितम्; सर्ग 2

शिक्षा प्राप्त करने का अधिकर रह गया तथा शूद्रों को शिक्षा ग्रहण करने से पूर्णतः वंचित कर दिया गया। दोनों ग्रन्थों के रचना-काल तक इन्हीं तीन वर्णों को ही ब्रह्मचारी बनने का अधिकार प्राप्त था। दशकुमारचरितम् के अध्ययन से भी यही बात स्पष्ट हो जाती है, जब कि मृच्छकटिकम् से इस सन्दर्भ में कोई जानकारी नहीं प्राप्त होती है।

उपनिषद् काल में आचार्यत्व का प्रधान आधार विद्वता थी न कि वर्ण अथवा जाति। आचार्य ब्राह्मण ही हो, उस युग में ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं था। किन्तु इन ग्रन्थों के रचना-काल तक आचार्यत्व का आधार वर्ण अथवा जाति हो गई। इससे पाठन अथवा अध्यापन का एकमात्र अधिकार ब्राह्मणों का ही हो गया।

स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में दोनों ही ग्रन्थों में स्पष्ट जानकारी का अभाव है। वैदिक काल में उन्हें पर्याप्त शिक्षा दी जाती थी। अनेक स्त्रियों का उल्लेख विदूषी के रूप में भी हुआ है। स्मृतिकाल तक उनकी स्थिति में ह्रास हुआ तथा मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों ने स्त्रियों की शिक्षा पर प्रतिबंध लगा दिया था तथा उनके उपनयन में वैदिक मन्त्रों का उच्चारण बंद कर दिया।[1] बाद में उनका उपनयन भी बंद कर दिया गया।[2] इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ग्रन्थों के रचना-काल तक स्त्री-शिक्षा में क्रमिक रूप से ह्रास होता गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव जीवन के विशिष्ट उद्देश्यों को जिनकी पूर्ति भारतीय संस्कृति का ध्येय था, ध्यान में रखकर प्राचीन शिक्षा प्रणाली का विकास किया गया था। भारत के प्राचीन ऋषियों ने इस जगत

---

[1] मनु., 2.56; 9.18

[2] मनु. 2.67

और जीवन की गुत्थियों को सुलझाना ही मानव जीवन का महान् कर्त्तव्य समझा था, न कि आजकल के समान स्वार्थ से अन्धे होकर एक-दूसरे पर पाशविक साम्राज्य स्थपित करके मानवता पर कुठाराघात करना।

(ख) 1. मृच्छकटिकम् में वर्णित विविध कलाएं

मृच्छकटिकम् प्रकरण के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि उस समय विविध कलाओं की शिक्षा दी जाती थी। इनमें वास्तुकला, संगीतकला, लेखनकला, चित्रकला, मूर्तिकला एवं कामकला की शिक्षा शामिल है।

ग्रन्थ के आरम्भ में शूद्रक के परिचय में बताया गया है कि शूद्रक अनेक कलाओं के साथ ही साथ 'वैशिकी कला'[1] में भी निपुण था। वैशिकी शीर्षक के अन्तर्गत समस्त ललित कलाएँ तथा अभिनय, नृत्यादि समाहित किये जा सकते हैं। उस समय मृच्छकटिकम् जैसे बड़े-बड़े नाटकों के अभिनय योग्य रङ्गशालाएँ रही होंगी। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यकला का पर्याप्त विकास हो चुका था।

संगीतकला का पर्याप्त विकास मृच्छकटिकम् में दृष्टिगोचर होता है। संगीत में गायन, वादन एवं नृत्य तीनों को सम्मिलित किया जाता है। चारुदत्त जैसा व्यक्ति भी संगीत के प्रति अत्यधिक आकर्षित होता है। रेभिल उज्जयिनी नगरी का प्रसिद्ध गायक था। गाना सुनने के लिए चारुदत्त एवं मैत्रेय रेभिल के पास जाते हैं। चारुदत्त रेभिल के गाने की प्रशंसा करता हुआ कहता है कि रेभिल का गाना रागपूर्ण, सुनने में मीठा लगने वाला, स्वर तथा लय आदि की समता वाला, स्पष्ट, भावपूर्ण, ललित एवं मनोहर था। अथवा हमारे बहुत बड़ाई करने से क्या लाभ? मुझे तो ऐसा लगता था कि रेभिल के

---

[1] "ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं।" मच्छ., 1-4

रूप में मानो स्त्री छिपी हुई हो अर्थात् रेभिल स्त्रियों की भाँति सब प्रकार की निपुणता के साथ गा रहा था।[1] इससे स्पष्ट होता है कि उस समय तक गायन विद्या का अत्यधिक विकास हो चुका था तथा ऐसा माना जाता था कि स्त्रियों को इस विद्या में अधिक निपुणता प्राप्त थी। चारुदत्त को भी संगीत से सम्बन्धित गूढ़ बातों का ज्ञान अवश्य था तभी तो वह स्वरों के उतार-चढ़ाव को अच्छी तरह समझता है। वह कहता है 'यह सत्य है कि गाने का समय बीत जाने पर भी अक्षरों की मूर्च्छना के अन्तर्गत काफी ऊँचा, विराम के समय कोमल और पुनः लीलापूर्वक नियन्त्रित, रागों में दो बार उच्चारण की हुई रेभिल की कोमल वाणी की उस स्वर योजना को तथा उससे मिली हुई वीणा की आवाज को मैं सुनता हुआ सा जा रहा हूँ।[2] उस समय गणिकाएं एवं वेश्याएँ भी संगीत कला में निपुण रहती थीं। मृच्छकटिकम् में गणिका वसन्तसेना एवं मदनिका भी इस कला में निपुण थीं। गायन, वादन एवं नृत्य इनका व्यवसाय ही था। अतः कहा जा सकता है कि उस समय तक नृत्य कला का भी पर्याप्त विकास हो चुका था।

मृच्छकटिकम् में विभिन्न प्रकार के वाद्ययन्त्रों का उल्लेख हुआ है। शर्विलक जब चारुदत्त के घर में सेंध कर चोरी करने के लिए घुसता है तब वह विभिन्न प्रकार के वाद्ययन्त्रों को देखकर कहता है- 'अरे! क्या यह मृदङ्ग है, यह दर्दुर है, यह पणव है, यह वीणा है, ये बासुरियाँ हैं और ये पुस्तकें

---

[1] "रक्तं च नाम मधुरं च समं स्फुटं च। भावान्वितं च ललितं च मनोहरं च।
किं वा प्रशस्तवचनैर्बहुभिर्मदुक्तै रन्तर्हिता यदि भवेद्वनितेति मन्ये।।"
मच्छ., अङ्क 3-4

[2] " तं तस्य स्वरसंक्रमं मृदुगिरः श्लिष्टं च तन्त्रीस्वनं
वर्णानामपि मूर्च्छनान्तरगतं तारं विरामे मृदुम्।
हेलासंयमितं पुनश्च ललितं रागद्विरुच्चारितं
यत्सत्यं विरतेऽपि गीतसमये गच्छामि शृण्वन्निव।।" मच्छ., अङ्क 3-4

हैं। क्या यह मकान नाच-गाना आदि सिखलाने वाले किसी नाट्याचार्य का है?[1] चौथे अंक में विदूषक वसन्तसेना के घर के चतुर्थ खण्ड में प्रवेश कर विविध वाद्ययन्त्रों को देखकर कहता है- 'अरे आश्चर्य है। इस चौथे खण्ड में भी युवतियों के हाथ बजाये गये मृदङ्ग, बादलों की भाँति गम्भीर शब्द कर रहे हैं। पुण्य खत्म हो जाने पर आकाश में गिरने वाले ताराओं के समान मँजीरे गिर रही हैं। भौंरो की गुञ्जार की भाँति बाँसुरी मीठी तान से बजाई जा रही है। दूसरी स्त्री की ईर्ष्या के कारण प्रेम में कुपित हुई युवती स्त्री की भाँति, गोद में रखी हुई वीणा ऊँगलियों के द्वारा सहलाने से मिलाई जा रही है। वेश्याओं की ये कुछ लड़कियाँ, फूलों के रसों से मतवाली भौरियों के समान, बड़ी मीठी तान में गाती हुई नचायी जा रही हैं और शृङ्गार से पूर्व अभिनय सिखाये जा रहे हैं। थोड़ी टेढ़ी पानी से भरी हुई गगरियाँ झरोखों में हवा से ठण्डी हो रही हैं।[2] इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय वेश्याओं को नृत्य, अभिनय, गायन, वादन आदि का प्रशिक्षण दिया जाता था।

उस समय विभिन्न प्रकार के वाद्य-यन्त्रों के सभ्य-सुसंस्कृत व्यक्तियों के समीप 'वीणा' को अत्यधिक महत्त्व मिला था। चारुदत्त ने भी वीणा की प्रशंसा करते हुए कहा था कि 'वीणा तो सही में, समुद्र से बिना निकला हुआ रत्न है। क्योंकि यह अत्यन्त विरह पीड़ा से व्याकुल व्यक्ति के लिए मनपसंद सखी है। इशारा किये गये स्थान पर आने में प्रेमी के देर करने पर यह मनबहलाव का अच्छा साधन है। विरह से पीड़ित की प्रिय ढाढस बँधाने

---

[1] "(समन्तादवलोक्य) अये! कथं मृदङ्गः, अयं दर्दुरः, अयं पणवः, इयमपि वीणा, एते वंशाः, अमी पुस्तकाः, कथं नाट्याचार्यस्य गृहमिदम्।" डॉ. त्रिपाठी रमाशंकर, मच्छ. अङ्क 3, प. 209

[2] डॉ. त्रिपाठी, रमाशंकर, मच्छ. अङ्क 4, पृ. 293

वाली है और प्रेमी जनों के राग या दूसरे के प्रति कामपूर्ण प्रेम को बढ़ाने वाला मनोरञ्जन है।[1]

प्रथम अंक में विट शकार से कहता है कि 'वसन्तसेना नाट्य-शाला में जाकर नृत्यगीथदि कलाओं के अभ्यास से दूसरों को ठगने में कुशल हो गई है और अपना स्वर-परिवर्तन भी कर लिया है।[2] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय अभिनय विद्या के प्रशिक्षण के लिए विधिवत् शालाएँ स्थपित थीं। यह भी संभव है कि वेश्याओं के व्यवसाय के प्रशिक्षण के लिए विधिवत् शालाएँ स्थपित रही हों।

चित्रकला का भी उस समय पर्याप्त प्रचार था। चतुर्थ अङ्क में वसन्तसेना स्वयं द्वारा बनाया गया चारुदत्त का चित्र मदनिका को दिखलाती है।[3] 'चित्रभित्ति' तथा 'पत्रच्छेद्य'[4] शब्दों के उल्लेख से प्रथम, वैसे चित्रों का बोध होता है, जो दीवाल पर निर्मित होते थे तथा दूसरे, वैसे चित्रों का जो अलंकृत चित्र रचना में पत्तियों की नानाभाव से आकृतियाँ काट कर निर्मित होते थे।

मृच्छकटिकम् में उन्नत मूर्तिकला का भी आभास मिलता है। द्वितीय अंक में द्यूतकर एवं सभिक मंदिर में जाते हैं। वहाँ विभिन्न प्रकार की

---

1 "वीणा हि नामासमुद्रोत्थितं रत्नम्। कुतः उत्कण्ठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या संकेतेक चिरयति प्रवरो विनोदः। संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणां रक्तस्य रागपरिवृद्धिकरः प्रमोदः।।" मच्छ., अङ्क 3-3

2 "इयं रङ्गप्रवेशेन कलानां चोपशिक्षया।
वञ्चनापण्डितत्वेन स्वरनैपुण्यमाश्रिता।।" मच्छ., अङ्क 1-42

3 डॉ. त्रिपाठी, रमाशंकर, मच्छ., अङ्क 4, पृ. 236

4 वही, अङ्क 5-5

देवमूर्तियाँ[1] तत्कालीन समाज में मूर्तिकला की उन्नत दशा की ओर संकेत करती हैं। इस ग्रन्थ में कपड़ा पर सूई की भी कारीगरी करने का अभास मिलता है। संवाहन या मालिश भी एक कला माना जाती थी, जिसका उल्लेख वसन्तसेना एवं संवाहक के संवाद में हुआ है।[2]

मृच्छकटिकम् में कामकला की भी चर्चा आती है। विट वसन्तसेना से कहता है कि 'यदि तुम केवल कोप ही करती हो तो जानो अनुराग नहीं है। अथवा कोप के बिना सम्भोग का आनन्द कहाँ है? तुम स्वयं कोप करो और प्रेमी को भी कोप कराओ एवं तुम खुश होओ और प्रेमी को भी खुश करो।[3]

मृच्छकटिकम् में भव्य भवनों, प्रासादों, मंदिरों, बागों, विहारों, धर्मशालाओं एवं मंदिरों में विद्यमान देव-मूर्तियों का सम्यक् विवेचन हुआ है, जिससे प्रतीत होता है कि उस समय तक भवन-निर्माण कला एवं स्थापत्य कला का पर्याप्त विकास हो चुका था। चारुदत्त का भवन नगर के चौक में स्थित है। उसके भवन का सुन्दर वर्णन किया गया है जिससे प्रतीत होता है कि उसका घर वर्तमान समय के किसी अत्यधिक धनवान् व्यक्ति के घर के समान रहा होगा। वसन्तसेना का प्रासाद तो भवन-निर्माण कला का आश्चर्यजनक नमूना प्रस्तुत करता है। उसके भव्य भवन में आठ प्रकोष्ठ हैं, जो वसन्तसेना के बहुत प्रकार के समाचारों से युक्त हैं एवं भवन-निर्माण कला का उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उसके इस विशाल एवं भव्य प्रासाद को देखकर मैत्रेय कहता है कि, 'मैनें सचमुच एकत्र स्थित तीनों लोकों को देख

---

1 डॉ. त्रिपाठी, रमाशंकर, मच्छ., अङ्क 2, पृ. 132

2 वही, अङ्क 2, पृ. 156

3 "यदि कुप्यसि नास्ति रतिः, कोपेन विनाऽथवा कुतः कामः?
कुप्य च कोपय च त्वं प्रसीद च त्वं प्रसादय च कान्तम्।।" वही, अङ्क 5-34

लिया है। प्रशंसा के लिए मेरी वाणी में सामर्थ्य नहीं है। तो क्या यह वेश्या का घर है अथवा कुबेर के भवन का एक खण्ड है।[1]

इस प्रकार मृच्छकटिकम् में वर्णित विविध भवनों को देखकर यह कहा जा सकता है कि उस समय के समाज में वास्तुविद्या एवं अभियान्त्रिकी काफी समुन्नत दशा में रही होगी।

2. दशकुमारचरितम् में वर्णित विविध कलाएं

दशकुमारचरितम् के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समय में प्रचलित अनेक उपयोगी कलाओं का वर्णन इस ग्रन्थ में हुआ है। सर्वप्रथम वात्स्यायन के कामसूत्र में चौसठ कलाओं[2] का वर्णन हुआ है, उसके बाद दशकुमारचरितम् में इस कला का वर्णन मिलता है। दशकुमारचरितम् में वर्णित चौसठ कलाओं[3] में काव्य, नाट्यकला का काफी विकास हो गया था। बहुत से लोग इन कलाओं में पूर्णता प्राप्त करते थे। कलाओं में निपुणता व्यक्ति के व्यक्तित्व में बहुत सहायक मानी जाती थी तथा कलासिद्ध पुरुषों को काफी सम्मान दिया जाता था।

दण्डी ने नृत्य एवं संगीत निपुण राजकन्याओं तथा गणिकाओं का वर्णन किया है। चम्पा की एक निपुण गणिका रागमञ्जरी नृत्य एवं सङ्गीत का मनोरञ्जक कार्यक्रम प्रस्तुत करती है।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि सङ्गीत एवं

---

1 "एवं वसन्तसेनाया बहुवृत्तान्तमष्टप्रकोष्टं भवनं प्रेक्ष्य यत्सत्यं जानामि, एकस्यमिव त्रिविष्टपं दृष्टम्। प्रशंसितुं नास्ति मे वाग्विभवः। किं तावद्गणिकागृहं अथवा कुबेरभवनपरिच्छेद इति।" वही, अङ्क 4, पृ. 306

2 वात्स्यायन कामसूत्र, 1.3, 1.15

3 झा, विश्वनाथ, दश., उ. 5, पृ. 162

4 "एष्वेव दिवसेषु काममञ्जर्याः स्वसा यवीयसी रागमञ्जरी नाम पञ्चवीरगोष्ठे संगीतकमनुष्ठास्यतीति सान्द्रादरः समागमन्नागरजनः।" वही, उ. 2, पृ. 47

नृत्य के कुछ कुशल शिक्षक होते थे, जो इन कलाओं में उत्सुक जनों को निपुण बनाते थे। वाद्य का अनुसरण करने वाले गीत का भी उल्लेख हमें मिल जाता है। नृत्य, गीत एवं वाद्य तथा अन्य कलाओं की शिक्षा का महत्त्व गणिकाओं के लिए अधिक था। वृद्ध गणिका माधवसेना अपनी पुत्री के प्रति अपने धर्म के बारे में कहती है कि निश्चित रूप से वेश्या की माँ का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी पुत्री को शाखाओं सहित काम विद्याओं का अध्यापन, नाच, गान, वाद्य, अभिनय, चित्र-रचना, मिष्ठान्नादि भोज्य, गन्ध और पुष्पकला, लिपि ज्ञान, भाषण कुशलता, क्रीड़ा-कौशल एवं रति-कला का व्यावहारिक ज्ञान कराये।[1] राजनर्तकियों, गणिकाओं को यह शिक्षा निपुण कलाकार की देखरेख में दिया जाता था। राजकुमार एवं राजयुवतियों को भी नृत्य, गीत, वाद्य की शिक्षा दिये जाने के प्रचलन की पुष्टि होती है। राजवाहन सहित अन्य कुमार अन्य विद्याओं के साथ संगीत तथा वीणा आदि वाद्यों को बजाने का कौशल प्राप्त करते हैं।[2] मित्रगुप्त दामलिप्त-नामक नगर में माधवी कुञ्ज में वीणा-वादन से अपना दिल बहलाते हुए एक व्यक्ति को देखता है।[3] कामरूप देश के राजा कलिंगवर्मा की पुत्री कल्पसुन्दरी को नृत्य, गीत निपुण बताना राजयुवतियों में नृत्य-गीत की शिक्षा के प्रचलन को पुष्ट करता है।[4] उस समय नृत्य के एक अन्य प्रचलित रूप का भी प्रमाण मिलता

---

1 वही, उ. 2, पृ. 19-20

2 वही, पू. 1, पृ. 47

3 "तत्र क्वचिदतिमुक्तक लतामण्डपे कमपि वीणावादेनात्मान विनोदयन्तमुत्कण्ठितं युवानमद्राक्षम्।" वही, उ. 6, पृ. 165

4 वही, उ. 3, पृ. 84

है, जिसमें कन्दुक गेंद के साथ खेलते हुए कलाकुशलता के साथ नृत्य किया जाता था, उसे कन्दुक नृत्य[1] कहते थे।

उस समय चित्रकला एक विकसित कला के रूप में स्थपित हो गया थी। दशकुमारचरितम् में कई बार चित्रकला की निपुणता की तरफ हमारा ध्यान आकृष्ट होता है। दशकुमारचरितम् में स्त्री एवं पुरुष दोनों का वर्णन हुआ है जो इस कला से परिचित थे तथा भावनाओं एवं संवेदनाओं को भी अपने चित्रों में उपस्थित कर देते हैं। अपहारवर्मा राजकन्या अम्बालिका के राजगृह में जाकर खूँटी पर टँगी और लाख के रस से रँगी तख्ती लेकर मणि-निर्मित पेटी से कूँची उठाकर उस प्रकार लेटी हुई उसका तथा उसके चरणों में हाथ जोड़े लगे हुए अपना चित्र बनाता है।[2] दशकुमारचरितम् में अन्य स्थलों पर भी चित्र कुशलता में निपुणता को प्रदर्शित किया गया है। ऐसा स्पष्ट होता है कि किसी का चित्र बनाते समय कुशल चित्रकार उसके भाव भंगिमाओं एवं व्यक्तित्व को भी स्पष्ट कर देते थे। चित्रकारों की इन चित्रकुशलता एवं गहराई का ज्ञान हमें नितम्बवती की कथा में होता है जब कलहकण्टक एक चित्रकार के बनाये एक चित्र में एक स्त्री को देखकर काम से पीड़ित होकर कहता है कि भाई यह स्त्री परस्पर विरुद्ध लक्षणों वाली लगती है, क्योंकि यह स्त्री शरीर को देखने में तो वेश्या लगती है, किन्तु उसकी नम्रता, कुलीनता, मुख की शोभा बताती है कि यह अधिक नहीं भोगी गई है, तथा ऐसा आभास होता है कि यह स्त्री किसी बूढ़े, अल्प-पुरुषत्व वाले बनिये की यथोचित भोग की अप्राप्ति से पीड़ित गृहिणी होगी।[3] इस

---

1 "नागदन्तलग्ननिर्यासकल्कवर्णितं फलकमादाय मणिसमुद्गकाद्वर्णवर्तिकामुद्धृत्य तां तथा शयानां तस्याश्च मामाबद्धाञ्जलिं चरणलग्नमालिखमार्यां।" वही, उ. 2, पृ. 71

2 वही, उ. 6, पृ. 166

3 वही, उ. 6, पृ. 203

तरह के उदाहरण से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय चित्रकला का विकास उन्नत स्तर पर था।

दशकुमारचरितम् में वास्तुविद्या तथा स्थापत्यकला का पर्याप्त विकास दृष्टिगोचर होता है। काञ्ची नगरी कुशल कारीगरों का एक सुन्दर नमूना थी, जो विश्वकर्मा से भी ज्यादा निपुणता से वास्तुशिल्प में ढली थी। नगरों एवं भवनों का व्यवस्थित एवं सुन्दर रूप हमें विकसित वास्तु-कला का ज्ञान कराता है। दशकुमारचरितम् में राजमहल से जुड़ी सुरंगों एवं पहाड़ों में स्थित गुफारूपी गृहों का वर्णन प्राप्त होता है। भवन में प्रयुक्त होने वाले लकड़ी के उपकरण नाव तथा साज-सज्जा के उदाहरण मिलते हैं। लकड़ी तथा पत्थर पर पच्चीकारी के कार्यों में कुशलता के प्रमाण भी दशकुमारचरितम् में प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त सभी कलाओं की भी शिक्षा उस समय निपुणता के साथ दी जाती थी।

3. विमर्श

समानता- दोनों ग्रन्थों में वर्णित विविध कलाओं की दशा का तुलनात्मक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि दोनों ग्रन्थों में वर्णित कलाओं की दशा में पर्याप्त समानता है। दोनों ग्रन्थों में वर्णित है कि समाज में विभिन्न प्रकार की कलाओं का प्रचलन था एवं लोगों को इन कलाओं की विधिवत् शिक्षा दी जाती थी।

दोनों ग्रन्थों में नाट्य-कला का पर्याप्त विकास दृष्टिगोचर होता है तथा ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनय विद्या के प्रशिक्षण के लिए विधिवत् शालाएं स्थपित रही होंगी।

दोनों ग्रन्थों में संगीत कला का पर्याप्त विकास वर्णन किया गया है। दोनों ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि गायन, वादन एवं नृत्य तीनों कलाओं का पर्याप्त विकास हो गया था। दोनों ही ग्रन्थों में गणिकाओं को इस विद्या में पारंगत बताया गया है। मृच्छकटिकम् में वसन्तसेना एवं मदनिका तथा दशकुमारचरितम् में काममञ्जरी एवं रागमञ्जरी आदि गणिकाओं का वर्णन संगीत कला में अत्यन्त दक्ष स्त्रियों के रूप में हुआ है।

विविध वाद्ययन्त्रों में लोगों के बीच वीणा का अधिक महत्त्व दोनों ही ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होता है। मृच्छकटिकम् में ब्राह्मण चारुदत्त वीणा की अत्यधिक प्रशंसा करता है।[1] दशकुमारचरितम् में भी राजवाहन एवं अन्य कुमार वीणा बजाने में दक्ष थे[2] तथा मित्रगुप्त वीणावादन से अपना दिल बहलाते हुए एक व्यक्ति को देखता है।[3]

दोनों ग्रन्थों में चित्रकला का पर्याप्त विकास दिखाई देता है। मृच्छकटिकम् में वसन्तसेना स्वयं द्वारा बनाया गया चारुदत्त का चित्र मदनिका को दिखलाती है।[4] दशकुमारचरितम् में भी अनेक स्थलों पर चित्रकला का प्रसंग प्राप्त होता है।[5]

दोनों ग्रन्थों में विभिन्न स्थलों पर वर्णित भवनों, प्रासादों, मंदिरों, बागों आदि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दोनों ग्रन्थों में स्थापत्यकला का पर्याप्त विकास हुआ है। दोनों ग्रन्थों में काम-कला का पर्याप्त विकास दृष्टिगोचर होता है तथा यह वर्णन मिलता है कि गणिकाओं एवं वेश्याओं के

---

1 मच्छ., 3-3

2 दश., पू. 1, पृ. 47

3 दश., उ. 6, पृ. 165

4 मच्छ. अङ्क 4, पृ. 286

5 दश., उ. 2, पृ. 71, वही उ. 6, पृ. 203

लिए इस कला की शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक था। मृच्छकटिकम् में विट एवं वसन्तसेना के संवाद से ऐसा प्रतीत होता है।[1] दशकुमारचरितम् में भी यह बात स्पष्ट हो जाती है जब वेश्या काममञ्जरी की माँ वेश्या का कर्त्तव्य बताती है कि वेश्या माँ का कर्त्तव्य है कि अपनी पुत्री को वह शाखाओं सहित कामविद्याओं का अध्यापन एवं रति-कला का व्यावहारिक ज्ञात कराये।[2]

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में वर्णित विभिन्न प्रकार की कलाओं में पर्याप्त समानता दृष्टिगोचर होती है।

विषमता- दोनों ग्रन्थों में वर्णित विविध कलाओं में कुछ परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होता है।

मृच्छकटिकम् में स्त्री पात्रों में केवल गणिकाओं को संगीत कला में निपुण बताया गया है तथा राजवर्ग की स्त्रियों में इस शिक्षा के बारे में कोई भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता है, इसके विपरीत दशकुमारचरितम् में गणिकाओं के साथ-साथ राजकन्याओं को भी इस कला में निपुण बताया गया है।[3]

दशकुमारचरितम् से स्पष्ट होता है कि गणिकाओं को विभिन्न प्रकार की कलाओं की शिक्षा देना उसकी माता का कर्त्तव्य बताया गया है,[4] किन्तु मृच्छकटिकम् में वसन्तसेना की माता के इस कर्त्तव्य के बारे में सूचना प्राप्त नहीं होती है।

दशकुमारचरितम् में एक विशेष प्रकार के कन्दुक नृत्य का उल्लेख मिलता है जिसमें गेंद के साथ खेलते हुए नृत्य किया जाता था, जब कि

---

1 मच्छ. अङ्क 5-34

2 दश., उ. 2, पृ. 19-20

3 दश., उ. 5, पृ. 84

4 दश., उ. 2, पृ. 19-20

मृच्छकटिकम् में इस प्रकार के नृत्य का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। मृच्छकटिकम् में वीणा के अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के वाद्य-यन्त्रों का उल्लेख मिलता है, जिसमें दर्दुर, मृदङ्ग, पणव, बांसुरी, मंजीरे आदि[1] हैं। दशकुमारचरितम् में वाद्ययन्त्रों में वीणा[2] का ही उल्लेख विशेष रूप से प्राप्त होता है।

मृच्छकटिकम् की अपेक्षा दशकुमारचरितम् में चित्रकला का अधिक विकास दृष्टिगोचर होता है। मृच्छकटिकम् में केवल एक स्थल पर चित्रकला का प्रसंग प्राप्त हुआ है जब वसन्तसेना स्वयं द्वारा बनाया गया चारुदत्त का चित्र मदनिका को दिखाती है।[3] इसके विपरीत दशकुमारचरितम् में चित्रकला का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है।[4] दशकुमारचरितम् में वर्णित चित्रकला मृच्छकटिकम् की अपेक्षा अधिक उन्नत है। इसमें चित्रकारों की कुशलता अत्यन्त गहन है तथा वे भाव भंगिमाओं एवं व्यक्तित्व को भी स्पष्ट करने में समर्थ हैं। मृच्छकटिकम् में केवल स्त्री पात्रों को चित्रकला में दक्ष बताया गया है, जब कि दशकुमारचरितम् में स्त्री पात्रों के साथ-साथ पुरुष पात्रों को भी इस कला में निपुण बताया गया है। मृच्छकटिकम् में दशकुमारचरितम् की अपेक्षा स्थापत्य एवं भवन निर्माण कला का अधिक विकास दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि स्थापत्य-कला का जैसा वर्णन मृच्छकटिकम् में प्राप्त होता है, वैसा दशकुमारचरितम् में नहीं प्राप्त होता है।

दशकुमारचरितम् में मूर्तिकला का वैसा विकास दृष्टिगोचर नहीं होता, जैसा मृच्छकटिकम् में होता है। मृच्छकटिकम् में मंदिरों में स्थित देव-

---

1 मच्छ., अङ्क 3, पृ. 209, वही, अङ्क 4, पृ. 293

2 दश., उ. 6, पृ. 165, वही, पू. 1, पृ. 47

3 मच्छ., अङ्क 4, पृ. 236

4 दश., उ. 2, पृ. 71 वही उ. 6, पृ. 203

प्रतिमाएँ[1] एक से बढ़कर एक हैं, जो मूर्तिकला की श्रेष्ठता प्रतिपादित करती हैं। दशकुमारचरितम् में मूर्तिकला का वैसा उल्लेख नहीं प्राप्त होता है।

मृच्छकटिकम् में संवाहन[2] अथवा मालिश-कला का उल्लेख मिलता है, जो गरीबी में आजीविका का आधार भी होता है। दशकुमारचरितम् में इस कला के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं है।

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों के रचना काल में भी समाज में कला की स्थिति में परिवर्तन हुआ होगा।

निष्कर्ष- दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि दोनों ग्रन्थों के समाज में विविध कलाओं की दशा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। मृच्छकटिकम् की अपेक्षा दशकुमारचरितम् में इन कलाओं की स्थिति में थोड़ी गिरावट अवश्य दृष्टिगोचर होती है। कलाओं की यही स्थिति तत्कालीन समाज में भी विद्यमान थी जिसकी पुष्टि इन दोनों ग्रन्थों के साथ ही साथ अन्य ग्रन्थों से भी हो जाती है।

प्राचीन काल में संगीत मनोरंजन का सर्वोत्तम साधन था। प्राचीन दंतकथाओं के अनुसार इस कला का विकास गन्धर्वों द्वारा हुआ। अतः इसे 'गन्धर्व विद्या' और इसके ग्रन्थ को 'गन्धर्व वेद' कहा गया है। सामवेद का गाया जाना लोक प्रसिद्ध ही है। ऋग्वैदिक काल में सामगान लोगों को पूर्णतया ज्ञात था। इस प्रकार संगीत-कला का उत्तरोत्तर विकास होता ही गया, जिसका उल्लेख रामायण, महाभारत, पुराण आदि ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर आता है। गुप्तकाल में भी सम्राट समुद्रगुप्त महान संगीतज्ञ था। वह स्वतः सिद्धहस्त गायक था। प्रयाग प्रशस्ति में बताया गया है कि 'गान्धर्व विद्या में

---

[1] मच्छ., अङ्क 2, पृ. 132

[2] मच्छ., अङ्क 2, पृ. 156

प्रवीणता के कारण उसने देवताओं के स्वामी इन्द्र के आचार्य कश्यप, तुम्बुरु, नारद आदि को भी लज्जित कर दिया था।[1]" संगीत कला पर शास्त्रीय ढंग से वर्णन सर्वप्रथम भरत के नाट्य-शास्त्र में प्राप्त होता है।

ऋग्वेद में नृत्यकला प्रवीण स्त्रियों का उल्लेख है जो अपनी विशेष पोशाक में सज-धजकर नृत्य करती हैं। उसमें यह भी कहा गया है कि उषा चमकीले वस्त्र धारण करके प्राची दिशा में नर्तकी के समान दिखाई देती है। पुरुष सुवर्ण आदि के आभूषणों से सुसज्जित होकर युद्ध-सम्बन्धी नृत्य का प्रदर्शन करते थे।[2] नृत्यकला के सम्बन्ध में सबसे प्राचीन ग्रन्थ भरत मुनि का नाट्य-शास्त्र है। इससे संगीत, नृत्य, नाट्य आदि ललित कलाओं के अङ्ग प्रत्यङ्ग पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

प्राचीन काल से ही संगीत का ज्ञान सभी स्त्री-पुरुष एवं राजवर्ग के लोग प्राप्त कर सकते थे। मृच्छकटिकम् में स्त्री-पात्रों में केवल गणिकाओं को संगीत-कला में निपुण बताया गया है तथा राजवर्ग एवं सामान्य वर्ग की स्त्रियों में इस शिक्षा से सम्बन्धित जानकारी का अभाव है। मृच्छकटिकम् की कथावस्तु समाज के सामान्य वर्ग से ली गई है। यदि सामान्य वर्ग की स्त्रियों में संगीत की शिक्षा का प्रचलन होता तो शायद मृच्छकटिकम् में भी इस वर्ग की स्त्रियों में इस कला का प्रचार होता। चूँकि मृच्छकटिकम् में ऐसा वर्णन नहीं मिलता, अतः यह कहा जा सकता उस समय के समाज में इस वर्ग की स्त्रियों में संगीत शिक्षा का प्रचलन कम रहा होगा। दशकुमारचरितम् में भी उस वर्ग की स्त्रियों के लिए संगीत की जानकारी का अभाव है अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि दोनों ग्रन्थों के रचना-काल में सामान्य वर्ग की स्त्रियाँ इस शिक्षा का अत्यल्प ज्ञान रखती थीं। यद्यपि राजवर्ग की

---

1 'व्रीडित त्रिदशपतिगुरोतुम्बुरु नारदादेः' हरिषेण, प्रयाग प्रशस्ति।

2 ऋग्वेद, 1/92/4; 6/29/3

स्त्रियों में इस कला से सम्बन्धित जानकारी का मृच्छकटिकम् में अभाव है, किन्तु दशकुमारचरितम् में इस वर्ग की स्त्रियों में इस जानकारी का प्राचुर्य है, तथा अन्य तत्कालीन ग्रन्थों द्वारा भी राजवर्ग की स्त्रियों में संगीत शिक्षा की जानकारी का उल्लेख प्राप्त होता है, अतः कहा जा सकता है कि मृच्छकटिकम् के रचना-काल में भी इस वर्ग की स्त्रियों में संगीत की शिक्षा अवश्य प्रचलन में रही होगी।

दशकुमारचरितम् में वीणा के अतिरिक्त अन्य वाद्य यन्त्रों का उल्लेख नहीं हुआ है। ऋग्वेद में तीन प्रकार के वाद्यों का उल्लेख है, जैसे दुन्दुभि, बाँसुरी और वीणा। गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त को भी सिक्कों पर वीणा बजाता हुआ दिखाया गया है।[1] इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल से ही वाद्ययन्त्रों में वीणा का महत्त्व सर्वाधिक था। इसके महत्त्व का प्रतिपादन दोनों ग्रन्थों में भी हुआ है। बाँसुरी, मृदङ्ग, मंज़ीरे आदि का प्रयोग ऋग्वैदिक काल में भी दृष्टिगोचर होता है एवं वर्तमान काल में यह प्रयोग में लाया जाता है, अतः कहा जा सकता है कि इसका प्रयोग दशकुमारचरितम् के रचना-काल में हुआ होगा।

गुप्तकाल में चित्रकला अपनी पूर्णता को प्राप्त हो चुकी थी। उस समय तक उदयगिरी, अजन्ता, बाघ आदि गुफाओं की चित्रकारी बेजोड़ है। अजन्ता की चित्रकारी तो विश्व में प्रसिद्ध है। मृच्छकटिकम् में यद्यपि इस कला का उल्लेख कम प्राप्त होता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मृच्छकटिकम् के रचना-काल में दशकुमारचरितम् के रचना-काल की अपेक्षा चित्रकला में गिरावट आ गई थी।

---

[1] श्रीवास्तव, के. सी.; प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृ. 406

मृच्छकटिकम् की अपेक्षा दशकुमारचरितम् में स्थापत्य-कला, भवन-निर्माण-कला एवं मूर्तिकला की स्थिति में गिरावट परिलक्षित होती है। इसका कारण मुख्यतः यह है कि गुप्तकाल में इस कला में अत्यधिक विकास हुआ है। जिस समय मृच्छकटिकम् की रचना हुई, वह समय निश्चित रूप से गुप्त शासकों की अवनति का काल था, किन्तु दशकुमारचरितम् के समय तत्कालीन राजनीतिक स्थिति अधिक खराब हो गई थी तथा कोई सार्वभौम राजा नहीं था जो इस स्थिति में सुधार कर पाता, जिससे समाज और अधिक अव्यवस्थित हो गया। इसी का परिणाम है कि दशकुमारचरितम् में इस कला का मृच्छकटिकम् की अपेक्षा कम विकास दृष्टिगोचर होता है। इसके अतिरिक्त शूद्रक ने मृच्छकटिकम् में स्थापत्य एवं भवन-निर्माण कला का जितना विशद् वर्णन किया है उतना संभवतः संस्कृत के अन्य किसी भी ग्रन्थ में नहीं हुआ है, अतः मृच्छकटिकम् में दशकुमारचरितम् की अपेक्षा इस कला का अधिक विस्तृत उल्लेख प्राप्त होना स्वाभाविक ही है।

(ग) 1. मृच्छकटिकम् में वर्णित दास-प्रथा

मृच्छकटिकम् के अनुशीलन से हमें दास-प्रथा से सम्बन्धित पर्याप्त जानकारी मिल जाती है, जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि मृच्छकटिकम् के समाज में दास-प्रथा का प्रचलन पर्याप्त बढ़ा हुआ था। दासों से विभिन्न प्रकार के कार्य लिये जाते थे। अधिकतर दासों से सेवा के अतिरिक्त गृह-सम्बन्धी विविध प्रकार के कार्य भी कराये जाते थे। प्रायः यह दासों के स्वामियों की प्रकृति और व्यवहार पर निर्भर करता था कि वे स्वभाव और हृदय से कैसे हैं। तदनुरूप ही वे अपने दासों के साथ व्यवहार करते थे। वस्तुतः दासों के प्रति उनका व्यवहार उनकी प्रकृति की कठोरता तथा निर्मलता पर ही निर्भर करता था। कभी-कभी स्वामियों की अमानवीय बर्बरता

और कटुता के वे शिकार होते थे तथा छोटे से अपराध के लिए भी उन्हें प्रताड़ना और शारीरिक दण्ड भी भुगतना पड़ता था अथवा इसके विपरीत कभी-कभी अपने स्वामियों की दयालुता, मानवता और सहृदयता के कारण वे सहज और स्वाभाविक जीवन व्यतीत करते थे। शकार का दास स्थावरक गर्भदास है।[1] गर्भदास या गर्भदासी उनको कहा जाता था जो आजन्म अपने स्वामी की सेवा में संलग्न रहते थे। स्थावरक चेट को अपनी दासता पर दुःख है और वह कहता भी हैं कि मैं पूर्वजन्म के भाग्य के दोष के कारण जन्म से ही दास बनाया गया हूँ।[2]

दास को स्वतन्त्रता का कोई अधिकार नहीं था। स्वामी के प्रत्येक आदेश का पालन करना उसका कर्त्तव्य था। कभी-कभी ऐसे भी दास होते थे जो आत्मगौरव से युक्त होते थे तथा स्वामी के अनुचित आदेश का विरोध करते थे यद्यपि ऐसे दास कम ही होते थे। शकार का दास स्थावरक वसन्तसेना को मारने सम्बन्धी स्वामी के आदेश का विरोध करता है। यद्यपि शकार उसे विभिन्न प्रकार के प्रलोभन देता है किन्तु स्थावरक परलोक से डरने वाला है, अतः वह वसन्तसेना की हत्या करने से मना कर देता है। वह शकार से कहता है 'आपका हमारे शरीर पर अधिकार है किन्तु चरित्र पर नहीं।[3] स्थावरक के इस कथन से यह बात स्पष्ट होती है कि दास के शरीर पर स्वामी का पूर्ण नियन्त्रण रहता था, किन्तु उसके साथ मानवीय आचरण किया जाता था। स्वामी की आज्ञा का पालन न करने पर दासों के साथ क्रूरतापूर्वक व्यवहार भी किया जाता था। शकार वसन्तसेना की हत्या न करने पर स्थावरक दास को खूब पीटता है और उसे बाँधकर अपने भवन में बन्द

---

1 डॉ. त्रिपाठी, रमाशङ्कर, मच्छ., अङ्क 8, पृ. 511

2 वही

3 "प्रभवति भट्टकः शरीरस्य, न चारित्र्यस्य।" वही, अङ्क 8, पृ. 509

कर देता है। शकार स्थावरक को विभिन्न प्रकार के प्रलोभन देते हुए कहता है कि 'मैं तुम्हें सारा जूठा दूँगा।'[1] स्थावरक भी कहता है कि 'मैं भी खा लूँगा।'[2] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दासों को कभी-कभी जूठा भोजन भी दिया जाता था।

संभवतः दासों के ऊपर विश्वास नहीं किया जाता था। जब स्थावरक चारुदत्त को बचाने के लिए चाण्डालों के पास जाकर वसन्तसेना की हत्या विषयक भेद खोल देता है तो शकार उस पर चोरी का आरोप लगा देता है। चाण्डाल शकार की झूठी बात पर विश्वास करते हैं जब कि स्थावरक की सत्य बात पर नहीं। इससे खिन्न होकर स्थावरक कहता है कि 'दुःख है, दासता ऐसी है कि सत्य का भी किसी को विश्वास नहीं करा पाती।'[3]

मृच्छकटिकम् के अध्ययन से समाज में दासी-वर्ग के अस्तित्व पर भी प्रकाश पड़ता है। मृच्छकटिकम् के समाज में दासी-वर्ग का पर्याप्त प्रचलन था। यह वर्ग अपने स्वामी तथा स्वामिनी की सेवा करता था। इनकी श्रेणी निम्नतम थी। संभवतः दास खरीदे भी जाते थे और धन देकर उन्हें दासता से मुक्त कराया जा सकता था। मदनिका ऐसी ही दासी थी, जिसे शर्विलक ने मुक्त कराया था। दास-वर्ग को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का भी अधिकार था। मदनिका शर्विलक से आभूषण प्राप्त कर अपने पास रखती है।

रदनिका चारुदत्त की दासी है। वह आज्ञाकारिणी है और चारुदत्त की गिरी अवस्था में भी उसकी सेवा निष्ठा से करती है। रोहसेन की देखभाल का दायित्व उसी के ऊपर है। इससे यह कहा जा सकता है कि कभी-कभी दासी

---

1 "सर्वं त उच्छिष्टं दास्यामि।" वही, अङ्क 8, पृ. 508

2 "अहमपि खादिष्यामि।" वही, पृ. 508

3 "हन्त, ईदृशो दासभावः, यत्सत्यं कमपि न प्रत्यापयति।" वही, अङ्क 10, पृ. 684

का कार्य धाय के रूप में भी होता था। दास-दासी अपने स्वामी के सहायक तथा उनके साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार भी करते थे। दासी मदनिका वसन्तसेना की स्नेहमयी सहेली है।

यदि स्वामी चाहता था तो धन लेकर या बिना धन लिए ही दास-दासी को मुक्त कर सकता था। वसन्तसेना मदनिका से कहती है कि 'यदि मेरा वश चले तो मैं सब दासों को मुक्त कर दूँ। राजा की आज्ञा से भी कभी-कभी दासों को मुक्त कर दिया जाता था। मृच्छकटिकम् के दशवें अङ्क में स्थावरक को इसी प्रकार दासता से मुक्त किया गया था।[1]

इस प्रकार मृच्छकटिकम् के समाज में प्रचलित दास-प्रथा के आधार पर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि उस समाज में दास-प्रथा का प्रचलन बहुत अधिक था तथा लगभग सभी सम्पन्न परिवारों में दास रखे जाते थे। यही स्थिति तत्कालीन समाज में भी थी, क्योंकि तत्कालीन अन्य ग्रन्थों से भी इसकी पुष्टि होती है। अतः कहा जा सकता है कि महाकवि शूद्रक ने अपने ग्रन्थ मृच्छकटिकम् में तत्कालीन समाज में प्रचलित दास-प्रथा का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है।

2. दशकुमारचरितम् में वर्णित दास-प्रथा

दशकुमारचरितम् के अनुशीलन से हमें इस ग्रन्थ में वर्णित समाज से सम्बन्धित दास-प्रथा के बारे में कुछ जानकारी अवश्य प्राप्त होती है। पूर्वकाल की भाँति दशकुमारचरितम के समाज में भी दास प्रायः घरेलू कार्य में ही लगाए जाते थे। भृत्य और दास में बहुत कम भेद था। दास को निकृष्ट कर्म भी करना पड़ता था। स्वामी का दास के शरीर पर पूरा नियंत्रण रहता था, किन्तु उसके जीवन पर कोई अधिकार नहीं था। सामान्यतः स्वामी अपने

[1] वही, अङ्क 10, पृ. 740

दास को खच्चर की भाँति पीट सकता था तथा भारी बोझ ढोने के लिए बाध्य कर सकता था। दास को भूख-प्यास भी सहन करना पड़ सकता था। वह दास को अनुचित कार्य करने के लिए बाध्य कर सकता था। दशकुमारचरितम् में एक स्थान पर यह उल्लेख प्राप्त होता है कि एक राक्षस दास एक सिद्ध पुरुष के सामने अञ्जलि बाँधकर खड़ा है एवं उससे कार्य करने की आज्ञा देने के लिए कहता है।[1] किन्तु वह दास अपने स्वामी के व्यवहार से इतना खिन्न है कि उसकी मृत्यु पर अत्यन्त प्रसन्न होकर कहता है कि यह नीच मालिक हमेशा मुझे अनुचित कार्य करने का आदेश देता है, गाली देता है और धमकाता है। इसके उत्पीड़न से कभी भी आँखों में नींद नहीं आती है।[2] इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कभी-कभी ऐसे स्वामी होते थे जो अत्यन्त क्रूर होते थे एवं अपने दास के साथ अमानवीय व्यवहार करते थे।

दशकुमारचरितम् में एक प्रसङ्ग में रत्नवती द्वारा रास्ते में समान ढोने तथा गृहकार्य करने के लिए पण्यदासी खरीदने का प्रसङ्ग प्राप्त होता है।[3] इससे स्पष्ट होता है कि दशकुमारचरितम् के रचना-काल में भी दास-दासी को धन के द्वारा खरीदा जा सकता था। संभवतः दासियों को खरीदते समय उनसे यह स्वीकारोक्ति ली जाती थी कि भागने, चोरी करने, मालिक का निधन करने अथवा मालिक और उसके सम्बन्धियों की आज्ञा की अवहेलना करने पर उसे

---

1 "तस्याग्रे स कृताञ्जलिः किंकरः 'किं करणीयम्, दीयतां निदेशः' इत्यतिष्ठत्।" झा, विश्वनाथ, दश., उ. 7, पृ. 215

2 "तन्निध्याय हृष्टतरः स राक्षसः क्षीणाधिरकथयत्-'आर्य, कदर्यस्यास्य कदर्थनान्न कदाचिन्निद्रायाति नेत्रे। तर्जयति त्रासयति च, अकृत्ये चाज्ञां ददाति।" वही, पृ. 216

3 "रत्नवती तु मार्गे कांचित्पण्यदासीं संगृह्य तयोह्यमानपाथेयाद्युपस्करा खेटकपुरमगमत्।" वही, उ. 6, पृ. 201

पीटने तथा बाँधने का पूरा-पूरा अधिकार था। दशकुमारचरितम् में एक सन्दर्भ के अनुसार बलभद्र अपनी दासी को कार्यों की लापरवाही तथा अशोभनीय भाषण के लिए बहुत पीटता है तथा उस पर चोरी करने का आरोप लगाता है।[1]

दशकुमारचरितम् में एक स्थल पर यह उल्लेख मिलता है कि अङ्ग देश के चम्पा शहर में काममञ्जरी नामक वेश्या एक ऊँचे तबके की महिला से महर्षि मारीच को वश में कर लेने की शर्त पर दासता की बाजी लगाती है। काममञ्जरी शर्त जीत जाती है, जिससे वह महिला स्वयं को काममञ्जरी की दासी स्वीकार कर लेती है। इसे राजा भी स्वीकार करता है।[2] इससे यह सहज निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि किसी विशेष शर्त पर व्यक्ति अपने को दूसरों का दास बना सकता है, जिसे सामाजिक मान्यता प्राप्त हो जाती थी।

दशकुमारचरितम् में एक अन्य प्रसङ्ग में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि राजकुमारी कन्दुकावती पति के वियोग में प्राण त्यागने की इच्छा लेकर सखियों एवं दासी-वर्ग को छोड़कर अकेली ही क्रीड़ा-उद्यान में पहुँचती है।[3] इस प्रसङ्ग के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजवर्ग के पास दास वर्ग बहुत बड़ी संख्या में रखे जाते थे। राजा के अन्तःपुर में सामान्यतः दासियाँ रखीं जाती थीं, जिनकी संख्या भी बहुत अधिक होती थी। ये दासियाँ अन्तःपुर की महिलाओं के समस्त कार्यों का सम्पादन करती थीं।

---

1 "ततस्तां प्रथमदासीम् 'न कर्म करोषि, दुष्ट मुष्णासि, अप्रिय ब्रवीषि' इति पुरुषमुक्त्वा बह्वताऽयत्।" वही, उ. 6, पृ. 201

2 वही, उ. 2, पृ. 30

3 वही, उ. 6, पृ. 211

दशकुमारचरितम् के अध्ययन से यह कहा जा सकता है कि दास-वर्ग के साथ जैसा भी व्यवहार किया जाता था, वह पूर्णतः स्वामी के स्वभाव पर निर्भर करता था। कभी स्वामी बहुत उदार होता था एवं दास के साथ मित्रवत् व्यवहार करता था। उसके व्यवहार से दास-वर्ग भी अत्यन्त खुश रहता था एवं अपने स्वामी का अत्यन्त विश्वासपात्र एवं स्वामीभक्त होता था। दशकुमारचरितम् में एक स्थल पर कुछ ऐसा ही प्रसङ्ग प्राप्त होता है, जिसके अनुसार कलिङ्ग के राजा कर्दन की कन्या कनकलेखा मंत्रगुप्त से कहती है कि मेरी सहेलियाँ और दासियाँ विशेष स्वामीभक्त हैं। रहस्य खुल जाने से अनर्थ की आशङ्का नहीं करनी चाहिए।[1]

संभवतः स्वामी अपनी दासियों के साथ शारीरिक सम्बन्ध भी बना सकते थे तथा इसके बदले में प्रचुर धन आदि देते थे। धन पाकर दासियाँ भी स्वेच्छा से अपने स्वामी के साथ शारीरिक सम्बन्ध स्थपित कर लेती थीं। यद्यपि इस तरह का व्यवहार करने वाले कुछ ही लोग होते थे। दशकुमारचरितम् में एक स्थान पर यह उल्लेख प्राप्त होता है कि कपटी मंत्री राजा से चोरी का धन कमाकर दासियों, वेश्याओं या रखैलों के घरों में ही भोगते हैं।[2] इस प्रसङ्ग में उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

उस समय दास-प्रथा से सम्बन्धित कुछ नियम प्रतिपादित थे, जिनका कड़ाई से पालन किया जाता है। संभवतः इस काल में उच्च वर्ग के सदस्यों को भी दास बनाया जा सकता था, क्योंकि काममञ्जरी वेश्या से जो महिला महर्षि मारीच को वश में करने की शर्त पर उसकी दासता स्वीकार करती है, वह ऊँचे तबके की ही महिला थी।[3] अतः कहा जा सकता है कि दासों की

---

[1] वही, उ. 7, पृ. 218

[2] वही, उ. 8, पृ. 250

[3] वही, उ. 2, पृ. 30

कोई जाति नहीं थी। किसी भी जाति का कोई व्यक्ति कुछ निश्चित परिस्थितियों में दास हो सकता था, यद्यपि अधिकांश दास निस्संदेह निम्न जातियों में से ही होते थे।

3. विमर्श

समानता- दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि दोनों ग्रन्थों के समाज में पर्याप्त समानता है। दोनों ही ग्रन्थों के समाज में दास-प्रथा का खूब प्रचलन था। दासों के साथ-साथ दासी-वर्ग का भी उल्लेख दोनों ग्रन्थों में पर्याप्त हुआ है।

दोनों ही ग्रन्थों में यह वर्णन मिलता है, कि दासों से विभिन्न प्रकार के कार्य लिए जाते थे, किन्तु प्रायः घरेलू कामों में उन्हें नियुक्त किया जाता था। भृत्य एवं दास में अन्तर बहुत कम था। दोनों ही ग्रन्थों में राजवर्ग के पास दास-वर्ग रखने का उल्लेख प्राप्त होता है। मृच्छकटिकम् में शकार जो राजवर्ग से सम्बन्धित है, उसके पास भी दास होने का उल्लेख प्राप्त होता है। दशकुमारचरितम् में राजवर्ग के पास एक बड़ी संख्या में दास वर्ग होने का उल्लेख अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है।

दोनों ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है कि दासों के साथ जैसा व्यवहार किया जाता था, वह पूर्णतः स्वामियों के स्वभाव पर निर्भर करता था।[1] यदि स्वामी अमानवीय, बर्बर एवं क्रूर होता है, तो वह अपने दास के साथ भी क्रूरता एवं कटुता का व्यवहार करता है। दोनों ही ग्रन्थों में स्वामियों को सहृदयता, मानवता एवं दयालुता से युक्त भी बताया गया है, जो अपने दासों के साथ बहुत अच्छा व्यवहार करते हैं। मृच्छकटिकम् में वसन्तसेना अपनी दासी मदनिका तथा चारुदत्त अपनी दासी रदनिका के साथ बहुत अच्छा

---

[1] मच्छ., अङ्क 8, पृ. 510, दश. उ. 7, पृ. 218

व्यवहर करता हैं। दशकुमारचरितम् में भी कुछ इसी प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है।[1]

दोनों ग्रन्थों से यह स्पष्ट होता है कि दास के शरीर पर स्वामी का पूर्ण-नियन्त्रण होता था तथा दास के लिए स्वामी की प्रत्येक आज्ञा का पालन करना आवश्यक माना जाता था। दोनों ही ग्रन्थों के समाज में दासों पर सामान्यतः अविश्वास किया जाता था। मृच्छकटिकम् में शकार अपने दास स्थावरक पर चोरी का आरोप लगाता है, किन्तु वह चोरी नहीं करता है।[2] दशकुमारचरितम् में भी बलभद्र अपनी दासी को पीटता है और उस पर चोरी करने का आरोप लगाता है।[3]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि दोनों ग्रन्थों में दास-प्रथा की दशा में पर्याप्त समानता है।

विषमता- मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् में वर्णित दास-प्रथा में कुछ विषमता भी दृष्टिगोचर होती है।

मृच्छकटिकम् में दासों के एक विशेष प्रकार 'गर्भदास'[4] का उल्लेख प्राप्त होता है। गर्भदास का आशय उन दासों से है जो आजन्म अपने स्वामी की सेवा में संलग्न रहते हैं। दशकुमारचरितम् में इस प्रकार के दास का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

दशकुमारचरितम् में स्वामी के अनुचित आदेश के विरोध करने का साहस करने वाले किसी दास का कोई उल्लेख नहीं है, जब कि

---

1 दश., उ. 7, पृ. 218

2 मच्छ., अङ्क 10, पृ. 684

3 दश., उ. 6, पृ. 201

4 मच्छ., अङ्क 8, पृ. 511

मृच्छकटिकम् में स्थावरक नामक एक ऐसे दास का उल्लेख मिलता है जो आत्मगौरव से युक्त एवं परलोक से डरने वाला है तथा अपने स्वामी शकार के अनुचित आदेश का विरोध करता है, यद्यपि उसके लिए वह बहुत पीटा जाता है।[1]

मृच्छकटिकम् के अध्ययन से यह आभास मिलता है कि कभी-कभी दास को जूठा भोजन भी दिया जाता था,[2] किन्तु दशकुमारचरितम् में दासों को जूठा भोजन देने का कोई उल्लेख नहीं मिलता। मृच्छकटिकम् में एक दासी का उल्लेख प्राप्त होता है जो अपनी स्वामी के पुत्र की जिम्मेदारी संभालती है। दशकुमारचरितम् में दासी के इस प्रकार के कार्य का कोई उल्लेख नही प्राप्त होता है।

मृच्छकटिकम् में दास-वर्ग को व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने के अधिकार का उल्लेख मिलता है, किन्तु दशकुमारचरितम् में दासों को व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने के अधिकार का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

मृच्छकटिकम् में धन देकर दासता से मुक्ति का वर्णन प्राप्त होता है। वसन्तसेना मदनिका को इसी प्रकार दासत्व से मुक्त करती है। कभी-कभी राजा भी किंसी भी व्यक्ति को दासत्व से मुक्त कर सकता था। दशकुमारचरितम् में दासत्व से मुक्ति सम्बन्धी किसी प्रकार का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

दशकुमारचरितम् में सामान ढोने तथा गृहकार्य के लिए पण्यदासी खरीदने का उल्लेख प्राप्त होता है।[3] मृच्छकटिकम् में ऐसा कोई उल्लेख नहीं

---

1 मच्छ., अङ्क 8, पृ. 509

2 वही, पृ. 508

3 दश., उ. 6, पृ. 201

प्राप्त होता है। दशकुमारचरितम् में वर्णन मिलता है कि लोग विशेष परिस्थिति में दासता की बाजी लगा लेते थे एवं बाजी हार जाने पर स्वयं को दूसरे व्यक्ति का दास स्वीकार कर लेते थे।[1] मृच्छकटिकम् में बाजी हारकर दासता स्वीकार करने का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

दशकुमारचरितम् में दासियों को धन देकर स्वामी द्वारा उनके साथ शारीरिक सम्बन्ध बनाने का उल्लेख प्राप्त होता है,[2] किन्तु मृच्छकटिकम् में स्वामियों का दासियों के साथ शारीरिक सम्बन्ध बनाने का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता।

दशकुमारचरितम् में उच्चवर्ग के सदस्य भी किन्हीं परिस्थितियों में दास बन सकते थे, क्योंकि वेश्या काममञ्जरी से जो महिला बाजी हारकर दासता स्वीकार करती हैं वह ऊँचे तबके की ही महिला है। मृच्छकटिकम् में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं मिलता, जिसमें उच्चवर्ग का कोई व्यक्ति दास बना हो।

अतः कहा जा सकता है कि दोनों ग्रन्थों में दास-प्रथा में पर्याप्त समानताओं के साथ-साथ कुछ विषमताएं भी विद्यमान हैं।

निष्कर्ष - दोनों ग्रंथों में वर्णित दास-प्रथा का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह कहा जा सकता है कि उस समय दास अपने स्वामी के परिवार का एक आश्रित सदस्य होता था। उसके निर्वाह का उत्तरदायित्व उसके स्वामी का था। दासों से विभिन्न प्रकार के कार्यों के अतिरिक्त सीमित रूप में कृषि कार्य भी लिए जाते थे, किन्तु दोनों ही ग्रन्थों में दासों के इस कार्य का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। प्राचीन भारत में दासों के साथ जैसा व्यवहार

---

1 दश., उ. 2, पृ. 30

2 वही, 8, पृ. 250

किया जाता था, वह स्वामी के स्वभाव पर निर्भर करता था। दोनों ग्रन्थों के साथ-साथ तत्कालीन अन्य ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख प्राप्त होता है।

स्वामी का दास के शरीर पर पूर्ण-नियंत्रण था, किन्तु जान से मारने का अधिकार नहीं था। सामान्यतः दासों पर विश्वास नहीं किया जाता था। मनुस्मृति में भी ये नियम प्रतिपादित किये गये हैं, कि स्वामी दास को रस्सी या डंडे से पीठ पर मार सकता है।[1] दास की गवाही स्वीकार नहीं की जाती थी।[2] दास को कोई कानूनी अधिकार न थे।[3] इस प्रकार इन नियमों का दोनों ग्रन्थों में पालन किया गया है। अतः कहा जा सकता है कि दोनों ग्रन्थों के रचना-काल में भी ये नियम समाज में मान्य थे।

मृच्छकटिकम् में दास के एक विशेष प्रकार 'गर्भदास'[4] का उल्लेख किया गया है, किन्तु दशकुमारचरितम् एवं तत्कालीन अन्य ग्रन्थों में इसका उल्लेख प्राप्त नहीं होता। मृच्छकटिकम् में एक दास का वर्णन आया है जो अपने स्वामी के अनुचित आदेश का विरोध कर देता है, जब कि दशकुमारचरितम् में दास स्वामी के अनुचित आदेश के विरोध करने का साहस नहीं कर पाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि मृच्छकटिकम् के रचना-काल तक दासों की स्थिति कुछ ठीक थी, जो स्वतंत्र रूप से थोड़ा बहुत विचार कर सकते थे, किन्तु दशकुमारचरितम् के रचना-काल तक उनकी स्थिति में पूर्व की अपेक्षा अधिक गिरावट आ गई।

मृच्छकटिकम् में दास-वर्ग को व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने के अधिकार का उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु दशकुमारचरितम् में नहीं। मनुस्मृति में दासों

---

1 मनुस्मृति, 8. 299-300

2 वही, 8. 70

3 वही, 8. 416

4 मृच्छ., अङ्क 8, पृ. 511

को व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार दिया गया है।[1] इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि मृच्छकटिकम् के रचना-काल तक तो दासों को व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार था, किन्तु परवर्ती काल में उनके इस अधिकार में संभवतः कटौती कर दी गई, जो उनकी गिरी अवस्था को द्योतित करता है।

प्राचीन विचारकों एवं स्मृतिकारों ने दासता से मुक्ति सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन किया है। कौटिल्य का कथन है कि यदि स्वामी अपनी दासी से सन्तानोत्पादन करे तो प्रसविनी दासी और उनकी सन्तान दोनों दासता से छुटकारा पा जाएँगी।[2] नारद ने भी दास-मुक्ति के अनुष्ठान का विधान किया है। इन नियमों का पालन मृच्छकटिकम् के रचना-काल पाँचवी सदी का उत्तरार्द्ध एवं छठी सदी के पूर्वार्द्ध तक किया जाता रहा, किन्तु उसके बाद दासों का मुक्त होना असम्भव-सा हो गया, क्योंकि दासों की मुक्ति सम्बन्धी उल्लेख न तो दशकुमारचरितम् एवं न अन्य तत्कालीन ग्रन्थों में हुआ है।

लगभग सभी स्मृतिकारों ने क्रय-दास का उल्लेख किया है। दशकुमारचरितम् एवं अन्य तत्कालीन ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख प्राप्त होता है। इस आधार पर कहा जा सकता है उस समय दासों का व्यापार होता था एवं व्यक्ति मूल्य देकर दास-दासी खरीद सकता था। मनुस्मृति में भी क्रीत-दास का उल्लेख प्राप्त होता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि मृच्छकटिकम् के रचना-काल में भी दासों का क्रय-विक्रय होता रहा होगा, यद्यपि मृच्छकटिकम् में इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। दासों का

---

1 मनुस्मृति, 8.416

2 "स्वामिनः स्वस्यां दास्यां जातं समातृकमदासं विद्यात्। गृह्या चेत्कुटुम्बार्थचिन्तनी माता भ्राता भगिनी चास्या अदासाः स्युः।" अर्थशास्त्र, 3.13

क्रय-विक्रय तथा व्यापार तो पूरे विश्व में पूरे अठारहवीं शताब्दी तक होता रहा, उसके बाद ही इस पर रोक लगाई गई।

दशकुमारचरितम् में दासियों को धन देकर स्वामी द्वारा उनके साथ शारीरिक सम्बन्ध बनाने का उल्लेख प्राप्त होता है। महाभारत में दास-दासियों को भेंट स्वरूप प्रदान करने के अनेक उदाहरण हैं।[1] पतञ्जलि ने दासियों के प्रति उनके स्वामियों की लोलुप दृष्टि का अनेक बार उल्लेख किया है।[2] याज्ञवल्क्य स्मृति से स्पष्ट होता है कि कुछ धनी स्वामी दासियों की इच्छा के विरुद्ध भी उनके साथ गमन करते थे। इसके लिए उन्हें दस पण दण्ड-स्वरूप देने होते थे। नारद का भी कहना है कि कुछ धनी व्यक्ति दासियों के साथ संभोग करते थे तथा दासियाँ किराये पर भी दी जाती थीं।[3] मृच्छकटिकम् में यद्यपि स्वामियों द्वारा दासियों के साथ संभोग करने का एक भी उदाहरण नहीं मिलता, तथपि तत्कालीन अन्य ग्रन्थों में इसका उल्लेख स्पष्टतः हुआ है, अतः इस आधार पर कहा जा सकता है कि मृच्छकटिकम् के रचना-काल में भी उनके साथ ऐसा बर्ताव होता था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में सर्वाधिक दुर्दशा दासियों की थी। उन्हें दिन-रात, सर्दी, गर्मी, वर्षा प्रत्येक ऋतु में हर समय कठिन परिश्रम करना पड़ता था। इसके बावजूद उनके स्वामियों द्वारा उनके साथ बलात्कार किया जाता था। दासियों की यह दुर्दशा परवर्ती कालों में बढ़ती चली गई। राजतरंगिणी में उल्लेख मिलता है कि कश्मीर के मंदिरों में सातवीं सदी में अनेक देवदासियाँ रहती थीं। कालिदास के मेघदूतम् में भी उज्जैन के महाकाल मंदिर में देवदासी होने का उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु इन दोनों ग्रन्थों में देवदासी-

---

1 महाभारत; सभापर्व, 52.45; वनपर्व, 233.43, विराटपर्व 18.21

2 महाभाष्य, 1.3.55, 2.3.69, 4.1.114

3 नारद स्मृति, 8.11-13

प्रथा का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। राजतरंगिणी एवं मेघदूतम् के आधार पर कहा जा सकता है, कि मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् के रचना-काल में समाज में यह प्रथा विद्यमान थीं, यद्यपि इन दोनों ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं हुआ है।

कौटिल्य के मतानुसार 'म्लेच्छ दण्डनीय नहीं हैं, यदि वे अपनी सन्तानों को बेचते अथवा प्रदान करते हैं, किन्तु आर्य दास नहीं बनाये जा सकते।''[1] मनु ने भी कहा है कि शूद्रों से दास कर्म कराना चाहिए।[2] कात्यायन का भी मत है कि दास स्वामी के वर्ण से नीचे का होना चाहिए तथा ब्राह्मण के लिए दासता नहीं है। याज्ञवल्क्य एवं नारद के अनुसार वर्ण के आधार पर और उसके अनुसार ही व्यक्ति अपने स्वामी का दास बन सकता था। उदाहरणस्वरूप ब्राह्मण के क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र दास हो सकते थे। क्षत्रिय के वैश्य और शूद्र तथा वैश्य के शूद्र। इससे स्पष्ट होता है कि विधानों के अनुसार तो ऊँचे वर्ण के लोग नीचे वर्ण के लोगों द्वारा दास नहीं बनाये जा सकते हैं, किन्तु दशकुमारचरितम् में इस नियम का व्यतिक्रम दिखाई पड़ता है। यह स्थिति दशकुमारचरितम् के रचना-काल में भी समाज में रही होगी, अतः इस आधार पर कहा जा सकता है कि शास्त्रकारों द्वारा इस सम्बन्ध में जो नियम निर्धारित किया गया था, मृच्छकटिकम् के रचना काल तक उसका पालन किया जाता रहा, किन्तु उसके बाद इस नियम की बाध्यता समाप्त हो गई, जिसका उल्लेख दशकुमारचरितम् में हुआ है।

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में वर्णित दास-प्रथा तथा अन्य तत्कालीन ग्रन्थों एवं धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित दास-प्रथा से सम्बन्धित नियमों का विश्लेषण

---

1 "म्लेच्छानामदोषप्रजां विक्रेतुमाधातुं वा। नत्वेवार्यस्य दासभावः।" अर्थशास्त्र, 3.13

2 मनुस्मृति, 8.413

करने पर यह कहा जा सकता है कि मृच्छकटिकम् के रचना-काल में दासों की स्थिति पूर्वकाल से अधिक दयनीय थी। किन्तु उस समय के स्मृतिकारों के विधानों एवं अन्य प्रमाणों के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि इस समय तक यह प्रथा कमजोर हो गई थी। इस प्रजा के कमजोर होने का एक कारण यह भी था कि इस समय वर्णाश्रम-व्यवस्था ही कमजोर हो गई थी, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है, अतः इस कारण भी दास-प्रथा में भी कमजोरी आ गई। सारांश यह है कि ईसा की प्रथम सहस्राब्दी के मध्य तक दास-प्रथा के क्षीणतर होने की प्रवृत्ति प्रबल होती जा रही थी यहाँ तक कि छः सौ ई. में रचित मनुस्मृति पर भारूचि की टीका में दासों के सम्पत्ति विषयक अधिकारों की पर्याप्य चर्चा है।

दशकुमारचरितम् के रचना-काल तक समाज में दास-प्रथा पूर्वकाल की अपेक्षा अधिक प्रचलित हो गई थी। इस काल में दास-प्रथा के विस्तार के अनेक कारण थे। जब दुर्भिक्ष पड़ते थे, तब मनुष्यों को अपना जीवन निर्वाह करना कठिन हो जाता था और वे स्वयं को बेच देते थे। सामंतीय युद्धों में बंदी किए गए व्यक्तियों से भी दासों जैसा व्यवहार किया जाता था। इस काल में दासों को निकृष्ट कर्म भी करना पड़ता था। नियामकों द्वारा दासों के जान-माल के अधिकारों की रक्षा के लिए कोई नियम नहीं बनाए गए। स्वामी का दास के जीवन पर पूर्ण अधिकार था। दासों की मुक्ति का कोई उपाय नहीं था, न ही कोई उल्लेख प्राप्त होता है। समाज का नैतिक स्तर गिर जाने के कारण मानव की प्रतिष्ठा बहुत गिर गई थी, ऐसी दशा में दासों की स्थिति पूर्वकाल की अपेक्षा अधिक खराब होना स्वाभाविक था।

वस्तुतः भारत में दासों की स्थिति पाश्चात्य दासों की तुलना में अत्यन्त उच्च और मानवीय थी। प्राचीन ग्रीस (यूनान), रोम तथा 18वीं सदी के अमेरिका के दासों की जो हीनावस्था थी, वह कभी भी प्राचीन भारतीय दासों

की नहीं थी। भारत में दासों के साथ मानवीय और सहृदयतापूर्वक व्यवहार किया जाता था। संभवतः इसीलिए यूनानी यात्री मेगस्थनीज समाज के अन्य वर्णों और दासों के बीच अन्तर नहीं समझ सका तथा दासों का कोई विवरण नहीं दिया है, बौद्ध एवं स्मृति साहित्य में भी उनके प्रति सदाशयता का विचार व्यक्त किया गया है।

आधुनिक समय में अंग्रेजी शासन के दौरान उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारत में एवं समस्त विश्व में दासता को समाप्त कर दिया गया है। किन्तु आज के पूँजीवादी एवं भोगवादी युग में दास-प्रथा दूसरे रूप में प्रचलित हो गई है। बँधुआ मजदूरी, बाल-श्रमिक एवं वेश्यावृत्ति आदि दासता के ही विभिन्न रूप हैं। धनकुबेरों द्वारा इनके साथ मनमाना एवं अमानवीय व्यवहार किया जाता है। यह एक प्रकार से प्राचीनकालीन दास-प्रथा की पुनरावृत्ति ही हैं। अतः दास प्रथा को पूर्णतः समाप्त करने के लिए दासता के इन विभिन्न रूपों को समाप्त करना आवश्यक है, जिससे मानव अपने गौरव एवं सुख को प्राप्त कर सके।

(घ) 1. मृच्छकटिकम् में वर्णित खान-पान

अत्यन्त प्राचीनकाल से ही मानव की तीन मूलभूत आवश्यकताएँ रही हैं, रोटी, कपड़ा और आवास। इनमें भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता रोटी ही है। रोटी का तात्पर्य आहार से है। जीवन चलाने के लिए आहार की आवश्यकता होती है। शाकाहार एवं मांसाहार दो प्रकार के आहार होते हैं। पाषाण-काल का मानव या आदि मानव भी दोनों प्रकार का आहार लेता था, जिनमें कंदमूल फल एवं पशु-पक्षियों के कच्चे मांस आदि थे। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया, वैसे-वैसे उसके खानपान में भी विकास होता गया। मृच्छकटिकम् के रचना-काल तक भारत में सभ्यता का पर्याप्त विकास

हो चुका था, जिससे मानव के खानपान में भी गुणात्मक विकास हुआ। खानपान की यही उन्नत स्थिति मृच्छकटिकम् में भी दृष्टिगोचर होती है।

मृच्छकटिकम् के अनुशीलन से यह कहा जा सकता है कि इस समय तक समाज में पाककला का पर्याप्त विकास हो चुका था। समाज में सामिष एवं निरामिष दोनों प्रकार के खाद्य-पदार्थों का खूब प्रचलन था। सामान्य लोग भी दोनों प्रकार के आहार ग्रहण करते थे। उस समय ब्राह्मण लोग भी मांसाहार करते थे, क्योंकि शकार विट को मांस खाने का प्रलोभन देकर वसंतसेना को मारने के लिए कहता है।[1] शकार के एक कथन में विट का ब्राह्मण होना सिद्ध होता है।[2]

तत्कालीन समाज में प्रचलित अनेक प्रकार के खाद्य-पदार्थों का उल्लेख मृच्छकटिकम् में हुआ है। सूत्रधार नटी से खाने-योग्य भोजन के लिए पूछता है तो नटी पूछती है कि आर्य के खाने के योग्य सब प्रकार का सरस भोजन है जैसे, गुड़-भात, घी, दही, चावल अर्थात् भात।[3] वसन्तसेना के भवन में पाँचवें प्रकोष्ठ में प्रवेश करके एवं देखकर विदूषक कहता है- "अरे! आश्चर्य! यहाँ पाँचवें खण्ड में भी दरिद्र आदमियों को ललचाने वाली, चारों ओर फैली हुई हींग और तेल की यह महक मुझे आकृष्ट कर रही है। हमेशा जलता हुआ रसोई घर भाँति-भाँति की महक से भरे हुए धुएँ को प्रकट करने वाले द्वार रूपी मुखों से मानो उच्छ्वास ले रहा है। पकाये जाते हुए

---

1 "यदीच्छसि लम्बदशाविशालं प्रावारकं सूत्रशतैर्हि युक्तम्।
मांसं च खादितुं तथा तुष्टिं कर्तुं चुहू चुहू चुक्कु चुहू चुहू इति।।" मच्छ. 8-22

2 "अथवा कपटकापटिक एष ब्राह्मणो वृद्धश्रृगालः कदाचिदपवारितशरीरो गत्वा श्रृगालो भूत्वा कपटं करोति।" वही, अङ्क 8, पृ. 520

3 "गुडौदनं घृतं दधि तण्डुलाः आर्येणात्तव्यं रसायनं सर्वमस्तीति" वही, अङ्क 1, पृ. 18

अनेक प्रकार के भोजनों की महक मुझे बहुत उत्सुक बना रही है। दूसरा यह कसाई काटे गये पशु की अँतड़ी को पुराने कपड़ों की भाँति, धो रहा है। रसोइया भाँति-भाँति के भोजनों का प्रकार बना रहा है। लड्डू बाँधे जा रहे हैं। पूए छाने जा रहे हैं।''[1]

खाद्य-पदार्थों में भारत का स्थान सर्वप्रमुख था। चावल की विभिन्न प्रकार की किस्में प्रचलित थीं, जिनसे विभिन्न प्रकार के व्यञ्जन बनाये जाते थे। गुड़-भात[2] तथा दही-भात[3] का वर्णन होने से कहा जा सकता है कि चावल को अनेक वस्तुओं के साथ खाया जाता था। चावल के अतिरिक्त जौ[4], उड़द[5] आदि खाद्यान्नों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि इनसे भी कुछ व्यञ्जन बनाये जाते होंगे। सुगन्धित लड्डू एवं पुए अत्यधिक प्रिय पकवान थे। भोजन में चावल के अतिरिक्त दाल, एवं शाक का भी प्रयोग किया जाता था।

दूध से निर्मित अनेक पदार्थों का उल्लेख प्राप्त होता है, जो स्वादिष्ट एवं पौष्टिक भी होते थे। इनमें दूध, दही, घी आदि मुख्य थे। इनका प्रयोग समाज के सभी लोग करते थे।

---

1. ''आश्चर्य भोः, इहापि पञ्चमे प्रकोष्ठेऽयं दरिद्रजनलोभोत्पादनकर अहारत्युपचितो हिङ्गुतैलगन्धः। विविधसुरभिधूमोद्गारैर्नित्यं संताप्यमानं निःश्वसितीव महानसं द्वारमुखैः। अधिकमुत्सुकायते मां साध्यमानबहुविधभक्ष्यभोजनगन्धः। अयमपरः पटच्चरमिव हतपशूदरपेशिं धावति रूपिदारकः। बहुविधाहारविकारमुपसाधयति सूपकारः। बध्यन्ते मोदकाः। पच्यन्तेऽपूपकाः।'' - मृच्छ., अङ्क 4, पृ. 294
2. मृच्छ., अङ्क 1, पृ. 18
3. वही अङ्क 1, पृ. 81
4. वही, अङ्क 4-17
5. वही अङ्क 1, पृ. 66

खाद्य-पदार्थों को स्वादिष्ट एवं टिकाऊ बनाने के लिए विभिन्न प्रकार के मसालों का प्रयोग किया जाता था। हींग, जीरा, कालीमिर्च, तेल तथा घी में बघारकर भी खाद्य-पदार्थों को स्वादिष्ट बनाया जाता था।

फलों में मुख्यतः आम का उल्लेख मिलता है, अतः कहा जा सकता है कि आमफल का विशेष प्रचलन था। इसके अतिरिक्त केला,[1] कटहल[2], कैथ[3] एवं मूली[4] का भी प्रयोग किया जाता था।

समाज में कपूर मिला हुआ सुगन्धित पान रखने का रिवाज था। मैत्रेय वसन्तसेना के महल के छठे प्रकोष्ठ में वेश्या और कामुक को कपूर मिला हुआ पान देने का उल्लेख करता है।[5]

मृच्छकटिकम् में मांसाहार को विशिष्ट भोजन माना जाता था। प्रथम अङ्क में विट वसन्तसेना से कहता है कि 'शिकारी के द्वारा पीछा करने से चकित हुई हरिणी के समान क्यों जा रही हो।'[6] विट के इस कथन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मृग का शिकार कर उसका मांस खाने का प्रचलन था। एक अन्य स्थल पर विदूषक ने हवा से काँपते दीपक की उपमा पशु को बाँधने के खूँटे के समीप ले जाये गये बकरे के हृदय से दी है।[7] इससे कहा जा सकता है कि बकरे का भी मांस खाया जाता था। एक अन्य

---

1 मृच्छ., अङ्क 1/20

2 मृच्छ., अङ्क 8/8,

3 मृच्छ., अङ्क 1, पृ. 100

4 वही, अङ्क 1-52,

5 "दीयते गणिकाकामुकयोः सकर्पूरं ताम्बूलम्।" -मच्छ., अङ्क 4, पृ. 297

6 "...व्याधानुसारचकिता हरिणीव यासि?" मच्छ., अङ्क 1-17

7 वही, अङ्क 1, पृ. 83

स्थल पर शकार के एक स्थान से कोयल का मांस खाने की पुष्टि हो जाती है।[1]

उस समय मांसाहार का प्रचलन वेश्याओं में भी था क्योंकि एक स्थान पर शकार ने वेश्या वसन्तसेना को 'मत्स्याशिका'[2] नाम दिया है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि संभवतः वेश्याएं मछलियों का सेवन अधिक करती थीं।

राजकुल एवं धनिकों के गृहों में मछलियों एवं मांस का इतना प्राचुर्य था कि कुत्ते तक उन्हीं को खाते थे, न कि मृतक को। यह बात चेट के उस कथन से स्पष्ट हो जाती है, जब वह वसन्तसेना से कहता है कि "राजा के अत्यन्त प्रिय (शकार) के साथ रमण करो, तब तुम मछली और मांस खूब खाओगी। इन दोनों मछली और मांस के कारण (परितृप्त हुए शकार के) कुत्ते मृतक का सेवन नहीं करते हैं।"[3]

शकार भी पाककला का ज्ञान रखता है। वह जानता है कि भोजन को किस प्रकार देर तक सुरक्षित रखा जा सकता है? वह कहता है- 'गोबर से लिप्त डण्ठल वाली कुम्हड़ी, सूखा हुआ शाक, तला हुआ मांस, हेमन्त ऋतु की रात्रि में पकाया गया भात, काल बीत जाने पर भी विकृत नहीं होते हैं।[4]

---

1 मच्छ., अङ्क 8-41

2 मच्छ., अङ्क 1-23

3 "रमया च राजवल्लभं ततः खादिष्यसि मत्स्यमांसकम्।
एताभ्यां मत्स्यमांसाभ्यां श्वानो मृतकं न सेवन्ते।" मच्छ., अङ्क 1-26

4 "कूष्माण्डी गोमयलिप्तवृन्ता शाकं च शुष्कं तलितं खलु मासंम्।
भक्तं च हैमन्तिकरात्रिसिद्धं लीनायां च वेलायां न खलु भवति पूति।" मच्छ., अङ्क 1-51

इससे यह भी सिद्ध होता है कि उस समय तला हुआ मांस भी खाया जाता था।

प्रातः काल जलपान ग्रहण करने का प्रचलन था।[1] यह अल्पाहार होता था। मध्याह्न में शकार द्वारा किये गये भोजन का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसमें शकार कहता है कि "मैंने अपने घर तीते-खट्टे मांस, शाक, मछली के सहित दाल या रसा, अगहनी चावल के भात तथा गुड़ मिले हुए भात (खोर) के साथ (साधारण चावल का) भात खाया है।[2]

विभिन्न प्रकार के मसालों को मिलाकर उनका प्रयोग औषधि के रूप में भी किया जाता था। इसका ज्ञान शकार को भी था। शकार अपना स्वर मीठा करने के लिए हींग से वासित जीरा सहित नागरमोथा, वच की गाँठ और गुड़ मिलायी हुई सोंठ का सेवन प्रतिदिन करता था।[3] वह कहता है कि "मैंनें हीङ्ग से वासित, (काली) मिर्च के चूर्ण से मिला हुआ तथा तेल एवं घी से मिला और बघारा हुआ कोयल का मांस खाया है, तो मैं मीठा स्वर वाला क्यों न होऊँ।"[4]

समाज में मदिरा का सेवन सामान्य था। सुरापान का सर्वाधिक प्रचलन गणिका समाज में था। वेश्यालय एक तरह से पानागार बने हुए थे। वसन्तसेना के छठे प्रकोष्ठ में वेश्या और कामुकजन सी-सी करते हुए

---

1. मच्छ., अङ्क 1, पृ. 14
2. "मांसेन तिक्ताम्लेन भक्तं शाकेन सूपेन समत्येकन।
   भुक्तं मयात्मनो गेहे शालीयकूरेण गुडौदनेन।" मच्छ., अङ्क 10-29
3. "हिङ्गूज्वला जीरकभद्रमुस्ता वचाया ग्रन्थिः सगुडा च शुण्ठी।
   एषी मया सेविता गन्धयुक्तिः कथं नाहं मधुरस्वर इति।" मच्छ., अङ्क 8-13
4. वही, 8-14

मद्यपान करते हैं।[1] वसन्तसेना की माता चौथिया बुखार से पीड़ित है। विदूषक चौथिया बुखार का कारण अत्यधिक मदिरा का सेवन करना बताता है। इसमें रोगी अत्यधिक मोटा हो जाता है। विदूषक चेटी से कहता है- ''सीधु, सुरा एवं आसव से मतवाली माता इस हालत को प्राप्त हो गई है। यदि इस समय वह माता मर जाती है तो हजारें सियारों की (पेट) पूर्ति होगी।''[2] सीधु, सुरा एवं आसव ये तीनों भिन्न-भिन्न मदिराओं के नाम हैं।

इस प्रकार स्पष्ट प्रतीत होता है कि मृच्छकटिकम् में खानपान की जो परम्परा प्रचलित थी, कुछ उसी प्रकार की परम्परा इस समय भी हमारे देश में प्रचलित है।

2. दशकुमारचरितम् में वर्णित खान-पान

दशकुमारचरितम् के समाज में खानपान की दशा पर्याप्त उन्नत थी। उस समय तक पाककला के ज्ञान की महत्ता स्वीकार की जाने लगी थी। घर की बहू से यह अपेक्षा की जाती थी कि उसे पाककला का ज्ञान हो तथा पाककला गृह खर्च के लिए उत्तम स्वीकार किया गया। मित्रगुप्त की कथा में शक्तिकुमार के प्रसङ्ग में युवती द्वारा पाक-कला का उत्तम नमूना उसको वधू रूप में स्थपित होने में सहायक होता है।[3] परम्परागत चौसठ कलाओं में पाककला भी एक थी जिसे लेखक द्वारा यथेष्ट महत्त्व प्रदान किया गया है। दशकुमारचरितम् में खानपान अत्यन्त सुसंस्कृत और सुरुचिपूर्ण था, अन्न का प्राचुर्य था और स्वादिष्ट भोजन सामग्रियों का अभाव न था।

---

1 ''पीयते चानवरतं ससीत्कारं मदिरा।'' -मच्छ., अङ्क 4

2 ''सीधुसुरासवमत्ता एवावदवस्थां गता हि माता।
यदि म्रियतेऽत्र माता भवति शृगालसहस्रपर्याप्तिका।'' - मच्छ. अङ्क 4-30

3 ''परितुष्टश्च विधिवदुपयम्य कन्यां निन्ये।'' -झा, विश्वनाथ, दश.,उ.6,पृ.195

शरीर को स्वस्थ एवं आकर्षक बनाने के लिए उत्तम आहार अनिवार्य तत्त्व माना गया है। दण्डी ने शरीर के सौंदर्य एवं स्वास्थ्य के लिए आहार की महत्ता का प्रतिपादन किया है। वृद्ध गणिका माता माधवसेना अपनी पुत्री के लिए उत्तम आहार का उल्लेख करती है, जो संभवतया राज-परिवारों तथा धनिक वर्ग के लिए सत्य हो सकती है। लेकिन सभी लोग अपने बच्चों के लिए उत्तम आहार दे सकते थे ऐसा समीचीन नहीं लगता। वृद्ध गणिका का यह उत्तरदायित्व था कि वह गणिका पुत्री के लिए ऐसा उत्तम आहार नियमित करे, जिससे उसका रूप, रंग, उत्साह एवं बुद्धि का पर्याप्त विकास हो तथा अग्नि और धातुओं का अवैषम्य लाने वाले सीमित भोजन से शरीर का पोषण हो।[1]

चावल दशकुमारचरितम् के समाज में सर्वाधिक लोकप्रिय आहार था। उस समय अनेक प्रकार के चावल प्रचलित थे। लोग खाद्य पदार्थों में अनेकानेक विधियों का उपयोग करते थे। मित्रगुप्त की कथा में धान या चावल के उपयोग की प्रचलित विधि का ज्ञान होता है। शक्तिकुमार नामक एक युवक एक युवती की कुशलता की परीक्षा के लिए उससे कहता है- 'हे कल्याणी, क्या तुममें इस प्रस्थ भर शालि से तैयार किया हुआ भोजन मुझे कराने का कौशल है।[2] इसी प्रसङ्ग में धान से भात तक की पूरी प्रक्रिया का सुन्दर विवरण प्रस्तुत किया गया है। कन्या चावल से पाँचगुना पानी डालकर, उबलने के बाद चावल डालकर, भात बना लेती है। प्रचलित अनेक चावलों में सुगन्धित चावल अधिक उत्तम माना जाता था। निरामिष

---

1 "एष हि गणिकामातुरधिकारो यद्दुहितुर्जन्मनः प्रभृत्येवाङ्गक्रिया, तेजोबलवर्णमेधासंवर्धनेन दोषाग्निधातुसाम्यकृता भितेनाहारेण शरीरपोषणम्।" दश., उ. 2, पृ. 19

2 "भद्रे, कच्चिदस्ति कौशलं शालिप्रस्थेनानेन संपन्नमाहारमस्मानश्यवहारयितुम् इति।" -दश., उ. 6, पृ. 190

भोजन में अन्न के पश्चात् दाल एवं शाक का विशिष्ट स्थान होता है। यद्यपि दाल एवं शाक के बारे में कोई प्रत्यक्ष जानकारी दशकुमारचरितम् में नहीं उपलब्ध होती है। स्वादिष्ट भोजन बनाने के लिए एक युवती अपनी माँ के हाथों, साग, घी, दही, तेल, आंवला तथा इमली मँगाती है।[1] भोजन को जायकेदार एवं स्वादिष्ट बनाने के लिए उसमें खटाई भी डाली जाती थी। चावल के साथ पके जल को मांड कहते थे तथा लोग मांड का भी उपयोग करते थे। उसमें नमक डालकर सुगन्धित पदार्थ से बघार दिया जाता था। खाने में सर्वप्रथम गर्म पेय परोसने की प्रथा थी, जिससे थकान दूर होकर मन प्रसन्न हो जाये तब उसके बाद थोड़ा भात, घी, चटनी और सब्जी परोसा जाता था। निरामिष भोज्य पदार्थों एवं उसके परोसने का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है।[2]

दशकुमारचरितम् में दूध से अनेक पदार्थ निर्मित किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। दूध की गणना एक पौष्टिक एवं शक्तिप्रद पेय पदार्थ के रूप में की जाती थी। दूध से दधि, घृत एवं मट्ठा आदि बनाये जाते थे। शक्तिकुमार को घी, दही और मट्ठा परोसने का उल्लेख मिलता है।

लोग पानी को ठण्डा करने के लिए मिट्टी के घड़े प्रयुक्त करते थे। अगर के धुयें से सुगन्धित, ताजे पाटल पुष्पों से वासित खिले कमलों से सुगंध-युक्त पानी बनाया जाता था, जिसे पीने से अतिथि शक्तिकुमार की नाक के छिद्र खिल गये एवं जीभ आकृष्ट हो गई थी।

---

1 "एभिर्लब्धाः काकिणीर्दत्वा शाक घृत दधि तैलमामलक चिञ्चाफल च यथालाभमानय इति।" दश., उ. 6, पृ. 193

2 "सा तु तां पेयामेवाग्रे समुपाहरत्। पीत्वा चापनीताध्वक्लमः प्रहृष्टः प्रक्लिन्नसकलगात्रः स्थितोऽभूत्। ततस्तस्य शाल्योदनस्य दर्वीद्वयं दत्वा सर्पिर्मात्रां सूपमुपदंश चोपजहार। इमं च दध्ना च त्रिजातकावचूर्णितेन सुरभिशीतलाभ्यां च कालशेयकाञ्जिकाभ्यां शेषमन्नमभोजयत्।" दश., उ. 6, पृ. 194

भोजनोपरान्त तथा सामान्य तौर पर भी खुशबूदार पान दिया जाता था। दशकुमारचरितम् में अनेक स्थलों पर सुगन्धित पान का प्रचलन दृष्टिगोचर होता है। एक अन्य स्थल पर दारुवर्मा बालचन्द्रिका को कपूरयुक्त सुगन्धित पान भेजता है।[1] राजकुमारी कान्तक को ऐसा ही सुगन्धित पानों का उपहार भेजती है।

दशकुमारचरितम् में फलों में आम बहुत प्रिय फल था। दशकुमारचरितम् में अनेक स्थलों पर आम के वृक्षों का उल्लेख हुआ है। राजवाहन की कथा में लेखक ने आमों के स्वादिष्ट उपयोग की ओर इंगित करते हुए लिखा है कि "आम्र बौरों के पराग (मधु) के आस्वादन से भ्रमरों एवं कोयलों के स्वर मधुर हो गये।"[2]

एक स्थान पर उल्लेख मिलने से स्पष्ट होता है कि आँगन में केले के पेड़ लगाए जाते थे।[3] इस आधार पर कहा जा सकता है कि केला फल का भी प्रयोग किया जाता था। ऐसा स्पष्ट होता है कि जंगली आदिवासियों का प्रमुख भोजन वन्य कन्दमूल, फल, फूल तथा मांस था। एक अन्य प्रसङ्ग में धन्यक एक अनजान भूखे लंगड़े व्यक्ति का कन्दमूल से जंगल में पोषण करता है तथा जंगल के शाक एवं मांस भी खिलाता है।[4]

दशकुमारचरितम् में मांसाहार किये जाने का पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होता है। समाज में मांसाहार अनैतिक नहीं समझा जाता था। मांस सामान्य भोज्य

---

1 दश., पू. 4, पृ. 98

2 "सहकारकिसलयमकरन्दास्वादनरक्तकण्ठानां।" दश., पू. 5, पृ. 103

3 दश., उ. 6, पृ. 193

4 "तमप्यार्द्राशयः स्कन्धेनोद्वहन्कन्दमूलमृगबहुले गहनोद्देशे यत्ररचितपर्णशालश्चिरमवसत्। अमुं च रोपितव्रणमिङ्गुदीतैलादिभिरामिषेण शाकेनात्मनिर्विशेषं पुपोष।" दश., उ. 6, पृ. 184

वस्तु थी। सामान्यतः ब्राह्मण वर्ग मांस से थोड़ा परहेज रखते थे लेकिन कुछ ब्राह्मण भी मांस का सेवन करते थे। किसी भी वर्ण तथा वर्ग का कोई भी व्यक्ति मांसाहारी हो सकता था। क्षत्रिय राजाओं का मृगया प्रेम उनकी मांसाभिरुचि को ही द्योतित करता है। अपनी विजय यात्रा से लौटते समय लाटेश्वर मत्तकाल जंगल में शिकार खेलने के लिए पड़ाव डालता है। मत्तकाल द्वारा शिकार के लिए वन में पड़ाव डालना उसकी मृगया मांस की अभिरुचि को दर्शाता है। एक स्थल पर उल्लेख आता है कि 'जिस प्रकार शिकार खेलना उपकार करने में समर्थ है, वैसे कोई अन्य वस्तु नहीं।'[1] वन प्रान्त के निवासियों के लिए मांस सामान्य आहार था, उनके खाद्य पदार्थों में जंगली अन्न एवं फल के बाद मांस की प्रचुरता थी। लेकिन सामान्य लोगों के लिए मांस विशिष्ट आहार था।

दशकुमारचरितम् के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय मांस भक्षण की अनेक विधियाँ प्रचलित थीं। जीव के कुछ हिस्से खाने योग्य नहीं माने जाते थे। विश्रुत आखेट में मारे गये मृग के रोएं, चमड़े, वलोम तथा आंते निकालकर काटता है तथा पुनः उसकी जांघ, हड्डी और गला निकालकर सलाइयों में बांधकर जंगल की दावानल के अंगारों में भूनता है और सब लोगों को खिलाकर भूख मिटाता है।[2]

दशकुमारचरितम् में मदिरा या सुरा के व्यापक प्रयोग के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। समाज में सभी वर्ग के लोग मद्य-पान कर सकते थे। एक स्थल पर मद्यपान की गोष्ठियाँ आयोजित करने का उल्लेख प्राप्त होता

---

1 "यथा मृगया ह्यौपकारिकी न तथान्यत्।" दश., उ. 8, पृ. 255

2 'मृगयेव अन्यस्यापलोमत्वचः क्लोमापोह्य निष्कुलाकृत्य विकृत्योर्वस्थिग्रीवादीनि शूलाकृत्य दावाङ्गारेषु तप्तेनामिषेण तयोरात्मनश्च क्षुधमत्यतार्षम्।" दश., उ. 8, पृ. 270

है।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि एक साथ अनेक व्यक्ति बैठकर मद्यपान कर सकते थे। एक स्थल पर उल्लेख प्राप्त होता है कि अपहारवर्मा ने रागमञ्जरी के प्रणय-क्रोध की शान्ति के लिये अनुनयविनयपूर्वक उसे सुरा पिलाई।[2] इस आधार पर कहा जा सकता है स्त्रियाँ भी सुरापान करती थीं, विशेषकर गणिकाएं एवं वेश्याएँ। सुरापान का सर्वाधिक प्रचलन गणिका समाज में था अपहारवर्मा महसूस करता है कि जब आदमी मद के वश में आ जाता है तो वह अपनी पुरानी प्रवृत्ति की ओर ही लगता है।[3]

3. विमर्श

समानता - दोनों ग्रन्थों में खानपान की दशा में अत्यधिक समानता दृष्टिगोचर होती है। दोनों ग्रन्थों से स्पष्ट होता है कि उस समय तक पाककला का पर्याप्त विकास हो गया था। समाज में शाकाहार तथा मांसाहार दोनों प्रकार के खाद्य-पदार्थों का पर्याप्त प्रचलन था। समाज में सामान्य लोगों द्वारा दोनों प्रकार का आहार ग्रहण करने का उल्लेख प्राप्त होता है।

दोनों ग्रन्थों में निरामिष खाद्य-पदार्थों में चावल का स्थान सर्वप्रमुख है। चावल की विभिन्न किस्में प्रचलित थीं, जिनमें सुगन्धित चावल अधिक उत्तम माना जाता था। चावल से विभिन्न प्रकार के खाद्य-पदार्थ तैयार किये जाते थे। भोजन में गुड़-भात, घी, दही, भात आदि का सेवन किया जाता था। दोनों ग्रन्थों में खाद्य-पदार्थों को स्वादिष्ट एवं जायकेदार बनाने के लिए सुगन्धित पदार्थों एवं मसालों से बघारा जाता था।[4]

---

1. दश., उ. 8, पृ. 251
2. "यतोऽहमेकदा रागमञ्जर्याः प्रणयकोपप्रशमनाय सानुनयं पायितायाः पुनः पुनः प्रणयसमर्पितमुखमधुगण्डूषमास्वादमास्वादं मदेनास्पृश्ये।" दश., उ. 2, पृ. 56
3. दश., उ. 2, पृ. 57
4. मृच्छ., अङ्क 8-14 दश., उ. 6, पृ. 194

दोनों ग्रन्थों से स्पष्ट होता है कि महिलाओं को पाक-कला का ज्ञान रखना आवश्यक था। मृच्छकटिकम् में नटी पाक-कला में दक्ष थी[1] तथा दशकुमारचरितम् में शक्तिकुमार जिस लड़की से विवाह सम्पन्न करता है, वह लड़की पाक-कला में विशेषज्ञ थी।[2]

शाकाहारियों के शरीर एवं स्वास्थ्य के लिए दूध एवं दूध से निर्मित दही, घी आदि अनेक प्रकार के पौष्टिक आहारों का उल्लेख दोनों ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

दोनों ग्रन्थों में उद्यानों एवं बागों का पर्याप्त उल्लेख मिलने से यह स्पष्ट होता है कि खाद्य-पदार्थों में फलों का स्थान महत्त्वपूर्ण था। दोनों ग्रन्थों से यह स्पष्ट होता है कि फलों में मुख्य रूप से आम अधिक प्रिय फल था। दोनों ही ग्रन्थों में केला का उल्लेख हुआ है अतः कहा जा सकता है कि उस समय केला फल का भी सेवन किया जाता था।

दोनों ग्रन्थों में भोजनोपरान्त एवं सामान्य रूप से भी पान खाने का रिवाज था।[3] कभी-कभी पान को सुगन्धित बनाने के लिए उसमें कपूर आदि सुगन्धित पदार्थ मिला दिया जाता था।

दोनों ग्रन्थों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि समाज में मांसाहार विशिष्ट भोजन होता था। समाज में सामान्य लोग भी कभी-कभी मांसाहार का सेवन करते थे। दोनों ग्रन्थों में ब्राह्मणों के मांसाहार करने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

---

1 मच्छ., अङ्क 1, पृ. 18

2 दश., उ. 6, पृ. 194

3 मृच्छ., अङ्क 4, पृ. 297, दश., पू. 4, पृ. 98

दोनों ग्रन्थों के समाज में सामान्य रूप से मदिरा का सेवन किया जाता था।[1] दोनों ही ग्रन्थों में अन्य लोगों के साथ-साथ वेश्याएँ भी मदिरा पान करती हुई दृष्टिगोचर होती है। मृच्छकटिकम् में वसन्तसेना के भवन में अनेक वेश्याओं तथा दशकुमारचरितम् में वेश्या काममञ्जरी द्वारा मदिरा पीने का उल्लेख प्राप्त होता है। दोनों ग्रन्थों से स्पष्ट होता है कि वेश्यालयों में खूब मदिरापान किया जाता था तथा समाज में स्त्रियाँ भी मदिरापान का आनंद उठाती थीं।

विषमता- दोनों ग्रन्थों में वर्णित खान-पान- की दशा में कुछ विषमता भी दृष्टिगोचर होती है।

मृच्छकटिकम् में शरीर एवं स्वास्थ्य के लिए आहार की महत्ता का प्रतिपादन नहीं किया गया है, जब कि दशकुमारचरितम् में इसके लिए विशेष आहारों का उल्लेख प्राप्त होता है।[2]

मृच्छकटिकम् में जंगली आदिवासियों के भोजन का कोई उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु दशकुमारचरितम् में जंगली आदिवासियों के भोजन का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसके अनुसार आदिवासी वनोत्पन्न कन्दमूल, फल, फूल तथा मांस का सेवन करते थे।[3]

मृच्छकटिकम् में जौ, उड़द आदि खाद्यान्नों तथा कटहल, मूली, कैथ आदि फलों का उल्लेख मिलता है, किन्तु दशकुमारचरितम् में इनका कोई उल्लेख नहीं किया गया है। दशकुमारचरितम् में आंवला एवं इमली[4] का

---

1 मृच्छ., अङ्क 4, पृ. 297, दश., उ. 2, पृ. 56

2 दश., उ. 2, पृ. 19

3 दश., उ. 6, पृ. 184

4 दश., उ. 6, पृ. 193

उल्लेख किया गया है, किन्तु मृच्छकटिकम् में नहीं। मृच्छकटिकम् में विभिन्न प्रकार के मसालों जैसे, हींग, जीरा, कालीमिर्च आदि[1] तथा उनके औषधि रूप में प्रयोग करने का उल्लेख प्राप्त होता है,[2] किन्तु दशकुमारचरितम् में मसालों के प्रयोग करने का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु न तो इनके नामों का कोई उल्लेख हुआ है और न ही इनका औषधि रूप में प्रयोग किया जाने का उल्लेख।

मृच्छकटिकम् में भोजन में चावल के साथ दाल एवं शाक का भी प्रयोग करने का उल्लेख हुआ है, किन्तु दशकुमारचरितम् में दाल का प्रयोग करने का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

मृच्छकटिकम् में अनेक बार लड्डू एवं एक बार पुए[3] का उल्लेख मिलता है, जिससे स्पष्ट होता है कि मृच्छकटिकम् में लड्डू अत्यन्त प्रिय मिष्ठान्न था। दशकुमारचरितम् में इन दोनों मिष्ठान्नों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

दशकुमारचरितम् में शारीरिक थकान मिटाने के लिए बघारा हुआ चावल का मांड देने की परम्परा थी,[4] किन्तु मृच्छकटिकम् में मांड का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता।

दशकुमारचरितम् में पानी को ठंडा एवं सुगन्धित करके अतिथि को पिलाने की परम्परा का उल्लेख हुआ है,[5] किन्तु मृच्छकटिकम् में नहीं।

---

[1] मृच्छ., अङ्क 8-13

[2] वही, अङ्क 8-14

[3] वही, अङ्क 4, पृ. 294

[4] दश., उ. 6, पृ. 193

[5] वही, उ. 6, पृ. 194-195

मृच्छकटिकम् में पशुओं में हरिण एवं बकरे; पक्षियों में कोयल का मांस तथा मछली का मांस खाने का उल्लेख मिलता है, किन्तु दशकुमारचरितम् में केवल पशु तथा पशुओं में भी केवल हरिण के मांस खाने का उल्लेख प्राप्त होता है। इसमें न तो किसी पक्षी और न ही मछली के मांस खाने को कोई उल्लेख हुआ है।

मृच्छकटिकम् में तला हुआ मांस खाने का[1] उल्लेख है, तो दशकुमारचरितम् में भूना हुआ मांस खाने का।[2]

मृच्छकटिकम् में तीन प्रकार के मदिरा का उल्लेख प्राप्त हुआ है; सीधु, सुरा एवं आसव; किन्तु दशकुमारचरितम् में मदिरा के किसी विशेष प्रकार का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

निष्कर्ष - मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् में वर्णित समाज में प्रचलित खान-पान की दशा का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि दोनों ग्रंथों में वर्णित खान-पान की दशा में अत्यधिक समानता है।

भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित खान-पान की दशा में दोनों ग्रंथों के रचना-काल तक कोई विशेष अन्तर नहीं आ सका। पूर्ववैदिक काल के आर्य अत्यन्त सादा एवं सरल भोजन करते थे। यव, धान्य, उड़द, मूँग, फल, सब्जी के अतिरिक्त मांस भी उनके भोजन का अङ्ग था। वे बकरी, भेड़, एवं बैल का मांस खाते थे। घी, दूध, दही, आदि का भी प्रयोग करते थे। समाज में सोमरस पीने का भी प्रचलन था। पूर्ववैदिक काल के खान-पान की जिस प्रथा का उल्लेख ऊपर किया गया है उसी प्रकार की प्रथा इन दोनों

---

1 मच्छ., अङ्क 1-51

2 दश., उ. 8, पृ. 270

ग्रन्थों में भी दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि कुछ खाद्यान्नों, फलों, मसालों एवं अन्य खाद्य-पदार्थों में दोनों ग्रंथों में कुछ असमानता दृष्टिगोचर होती है, किन्तु इससे यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि तत्कालीन समय में इनमें कोई अन्तर आ गया था, अपितु यह माना जा सकता है कि उनका वर्णन प्रसङ्ग वश ही किया गया है।

मृच्छकटिकम् में ब्राह्मणों के लिए मांसाहार करने का उल्लेख मिलता है तथा दशकुमारचरितम् से भी स्पष्ट होता है कि समाज में कुछ ब्राह्मण मांसाहार अवश्य करते थे। ऋग्वैदिक काल में ब्राह्मण मांसाहार करते ही थे। रामायण से विदित होता है कि ब्राह्मण अगस्त्य ऋषि मांस खाने के आदी थे[1] महाभारत में ज्ञात होता है कि मांस खाने वाले ब्राह्मणों की संख्या समाज में अधिक नहीं थी। अधिकतर ब्राह्मण निरामिष थे।[2] अतः स्पष्ट होता है कि महाभारत काल में भी कुछ ब्राह्मण मांस अवश्य खाते थे। मांस का सेवन करने में क्षत्रिय वर्ग अवश्य अग्रणी था। महाभारत के सन्दर्भ के अनुसार द्रौपदी ने जयद्रथ के स्वागत में हरिण, खरगोश, भालू आदि का मांस पकवाया था।[3] स्मृतियों के काल में जब मांस-भक्षण हिन्दू समाज में निन्द्य माना जाने लगा था, तब आपत्तिकाल में मांस खाने का विधान किया गया था। मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मणों के लिए भी मधुपर्क में, श्राद्ध में और प्राण संकट में पड़ने पर मांस खाने की व्यवस्था थी।[4] व्यास-स्मृति में भी उल्लेख

---

1 रामायण 3.12.50-64

2 महाभारत 4.72.28

3 वही 3.265 13-15

4 प्रेक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया।
यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चत्यये।। मनु. 5.21

किया गया है कि हिन्दू यज्ञ और श्राद्ध में मांस का निषेध नहीं था।[1] उपरोक्त विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों ग्रन्थों के रचना काल तक अन्य वर्णों के साथ-साथ ब्राह्मण भी किन्हीं परिस्थितियों में मांसाहार कर सकते थे। यही कारण है कि मृच्छकटिकम् में एवं मृच्छकटिकम् से पूर्ववर्ती ग्रन्थों तथा परवर्ती ग्रन्थ दशकुमारचरितम् एवं अन्य तत्कालीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख प्राप्त होता है।

मृच्छकटिकम् में पशु, पक्षी एवं मछली का मांस खाने का उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु दशकुमारचरितम् में केवल पशु का। वैदिक काल में बकरी, भेड़, बैल आदि पशुओं का मांस खाने का उल्लेख प्राप्त हुआ है। वैदिक ऋषि गोमांस के प्रति विशेष रुचि रखते थे। रामायण में उल्लिखित है कि भरत के स्वागत में ब्राह्मण भारद्वाज ने अनेक पशु-पक्षियों का मांस बनवाया था।[2] ह्वेनसांग के अनुसार मछली, भेड़ एवं हरिण का मांस कभी कभी स्वादिष्ट भोजन के रूप में खाया जाता था। सातवीं सदी के कवि बाण ने भी सम्राट हर्ष की सेना में पकने वाले बकरे, हरिण आदि के मांस का उल्लेख किया है।[3] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मृच्छकटिकम् के रचना-काल तक पक्षी, पशु एवं मछलियों का मांस खाया जाता था, किन्तु दशकुमारचरितम् के रचना-काल तक पक्षी का मांस खाने की परम्परा काफी हद तक कम हो गई थी, क्यों कि उस समय के चीनी यात्री ह्वेनसांग एवं भारतीय कवि बाणभट्ट ने भी पक्षी खाने का कोई उल्लेख नहीं किया है।

---

1 नाश्नीयाद्ब्राह्मणो मांसमनियुक्तः कथञ्चनः।
क्रतौ श्राद्धे नियुक्तौ वा अनश्नन् पतित द्विज।
मृगयोपार्जितः मांसभ्यर्च्यं पितृदेवता।" व्यास स्मृति 3.53-58

2 रामायण 2.91, 67-70

3 "महान् सोपाकरण वाहिमांश्च वद्धवराहवध्रवाध्रीणसैर्लबमानहारण चटुकचंटकजूटजटलैः।" हर्षचरितम्, पृ. 285

भारतीय समाज में सुरापान अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रचलित रहा है। ऋग्वैदिक काल में भी सुरापान का प्रचलन था। मनु ने तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों उच्च वर्णो को सुरापान से वंचित रखा है।[1] अन्य धर्मशास्त्रों में ब्राह्मण के लिये सुरापान का निषेध किया गया था तथपि अन्य द्विजवर्णो को सुरापान की छूट दी है। ब्राह्मणी के लिए भी सुरापान वर्जित था। वैसे सामान्य जन-जीवन में सुरा का प्रचलन था। यही नहीं निम्न वर्ग के लोग भी सुरापान किया करते थे। ह्वेनसांग के अनुसार, अनेक प्रकार की सुराएं विभिन्न जातियों के लोग पीते थे। द्राक्षासव और ईख का रस ब्राह्मण और बौद्ध पीते थे, दाख और ईख की सुरा क्षत्रिय, तीव्रतम सुरा वैश्य तथा अन्य प्रकार की सुरा निम्न वर्ण के लोग। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् के रचना-काल तक संभवतः ब्राह्मणों में मदिरापान की प्रथा बहुत कम हो गयी थी, क्यों कि दोनों ही ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से ब्राह्मणों के लिए मदिरापान करने का उल्लेख नहीं हुआ है। अन्य वर्णो के लोगों में यह प्रथा सामान्य थी तथा कुछ स्त्रियाँ भी मदिरापान करती थीं, विशेषकर वेश्याएं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि खान-पान की जो प्रथा भारत में अत्यन्त प्राचीन काल में थी, लगभग वही प्रथा दोनों ग्रन्थों के रचना काल में भी विद्यमान थी। आधुनिक युग में भी खान-पान की लगभग वही प्रथा भारत में विद्यमान है। समय के साथ-साथ उसमें परिष्कार अवश्य हुआ है। वर्तमान में भारत में अन्य देशों के खान-पान को अपनाया गया है, जिससे कहा जा सकता है कि इससे भारत में खान-पान की दशा अधिक उन्नत हो गई है, किन्तु इसके कुछ नकारात्मक पहलू में सामने आये हैं। समाज में मांसाहार

---

[1] सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलसुच्यते।
तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरा पिबेत्।। मनु. 11.94

की प्रवृत्ति काफी हद तक बढ़ गयी है, जिनका धर्मशास्त्रों में निषेध किया गया था। मांसाहार के साथ-साथ मदिरा का सेवन भी समाज में बहुत बढ़ गया है। मनु ने तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों को सुरापान से वंचित रखा था, किन्तु वर्तमान में यही तीनों वर्णों के लोग मदिरा का सेवन सर्वाधिक कर रहे हैं। यह स्थिति समाज के लिए हानिकारक है। इसस्थिति से बचने के लिए ही प्राचीन काल में इस पर कुछ सीमाएं लगा दी गई थीं। वर्तमान में इन सीमाओं के टूटने का परिणाम भारतीय समाज भुगत रहा है। प्राचीन काल में शाकाहार पर विशेष जोर दिया जाता था, जिसकी प्रशंसा प्राचीन स्मृतियों में की गई है। मनु के अनुसार मांस न खाने वालों को अवश्मेध यज्ञ का फल मिलता था। मांस का त्याग करने से मनुष्य अपने यज्ञ से देवताओं को संतुष्ट करता था, सर्वदा दान देता था तथा सर्वदा तपस्वी रहता था। उसे जो फलों और कन्दों के त्याग से नहीं प्राप्त होता था, वह उसे मांस के त्याग से प्राप्त होता था।[1] जिस शाकाहार की प्रशंसा हमारे देश में प्राचीनकाल से की जा रही है, उसके महत्त्व को आज पूरा विश्व समझ चुका है। आज पूरे विश्व में शाकाहार पर विशेष जोर दिया जा रहा है। भारत में भी एक बार पुनः शाकाहार पर लोगों का विश्वास बढ़ रहा है एवं लोग शाकाहार का महत्त्व समझ रहे हैं।

(ङ) 1. मृच्छकटिकम् में वर्णित वस्त्र एवं आभूषण

युग-विशेष की वेश-भूषा समाज की रहन-सहन प्रणाली का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। वेशभूषा तथा आभूषण के सम्बन्ध में मृच्छकटिकम् में

---

[1] "वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत् शतं समा।
मांसानि च न खोदद्यस्तयोः पुण्यफलं समम्।।
न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात्।" मनु. 5.53-54

विस्तृत जानकारी का अभाव है। इससे सम्बन्धित जो भी जानकारी मृच्छकटिकम् में उपलब्ध है, उससे तत्कालीन समाज में प्रचलित लोगों के वस्त्राभूषण से सम्बन्धित कुछ जानकारी अवश्य हो जाती है। मृच्छकटिकम् से हमें ज्ञात होता है कि समाज के लोग अपने स्तर के अनुसार सूती, ऊनी और रेशमी वस्त्रों, बहुमूल्य आभूषणों तथा सुगन्धित वस्तुओं का प्रयोग करते थे। देश, काल, वातावरण, वैयक्तिक रुचि और सामाजिक स्तर के अनुसार व्यक्ति पृथक्-पृथक् परिधान धारण किया करते थे।

मृच्छकटिकम् में सिले हुए वस्त्रों का उल्लेख बहुत कम होने से कहा जा सकता है कि उस समय सिले हुए वस्त्रों का प्रचलन भी काफी कम रहा होगा। एक स्थल पर वसन्तसेना के वस्त्रों के भीग जाने पर चारुदत्त विदूषक से वसन्तसेना के लिए दो अच्छे वस्त्रों के लाने के लिए कहता है।[1] इस आधार पर कहा जा सकता है कि उस समय स्त्रियाँ अन्तः वस्त्रों के अतिरिक्त दो बाह्य वस्त्रों को पहनती थीं। ये दोनों बाह्य वस्त्र संभवतः धोती एवं ओढ़नी होती थी। सम्पन्न स्त्रियाँ रेशमी वस्त्र पहनती थीं। स्त्रियों के वस्त्र रंगीन होते थे। शकार एवं विट के द्वारा पीछा की जाती हुई वसन्तसेना लाल रेशमी वस्त्र पहने हुए थी।[2] वसन्तसेना की माता का उत्तरीय या ओढ़नी फूल गढ़ी हुई है। विवाहिता स्त्रियां घुँघट के लिए एक कपड़े का प्रयोग करती हैं।[3]

निर्धन व्यक्ति अपना शरीर अत्यल्प वस्त्रों से ढँकता है। यह बात चारुदत्त के एक कथन से स्पष्ट होती है कि निर्धन व्यक्ति अल्प वस्त्र वाला

---

1. "तद्वयस्य क्लिन्ने वाससी वसन्तसेनायाः। अन्ये प्रधान वाससी समुपनीयेतामिति।" डॉ. त्रिपाठी, रमाशङ्कर, मृच्छ. अङ्क 5, पृ. 369
2. किं यासि बालकदलीव विकम्पमाना, रक्तांशुकं पवनलोलदशं वहन्ती। मृच्छ. 1-20
3. वही, अङ्क 4-24

होने के कारण लज्जावश बड़े लोगों से दूर होकर ही चलता है।[1] धनी व्यक्ति के वस्त्र कीमती, चमकीले तथा भड़कीले होते थे। शकार के वस्त्र काफी चमकीले एवं भड़कीले हैं। कर्णपूरक का वेष भी खूब सफेद है। जूर्णवृद्ध चारुदत्त को चमेली से सुगन्धित उत्तरीय भेजता है। दर्दुरक का कपड़ा फटा एवं पुराना है। विदूषक का नहाने का तौलिया जीर्ण-शीर्ण था, जिसमें सोने का आभूषण बाँधा गया था। वसन्तसेना के भाई का उत्तरीय रेशमी है। शकार वसन्तसेना को मारने के लिए विट को सैकड़ों सूतों से बने हुए, लम्बी किनारी वाले, विशाल दुपट्टा देने का प्रलोभन देता है।[2] शकार शिर पर पगड़ी पहनता है।[3] इससे स्पष्ट होता है कि उस समय कुछ लोग सिर पर पगड़ी भी बाँधते थे। बौद्ध भिक्षु एक विशेष प्रकार का वस्त्र चीवर पहनते थे।

मृच्छकटिकम् के समाज में स्त्री एवं पुरुष दोनों आभूषणों के विशेष प्रेमी थे। इस समय स्वर्ण का आधिक्य दृष्टिगोचर होता है, क्यों कि स्वर्णाभूषणों का आधिक्य समाज में था। मुख्यरूप से आभूषण सोने के बनते थे। कभी-कभी उसमें विभिन्न प्रकार के रत्नों को जड़कर आभूषणों को अत्यन्त आकर्षक बना दिया जाता था। वसन्तसेना के भवन के छठे प्रकोष्ठ को देखकर विदूषक कहता है- "अरे! आश्चर्य इस छठे खण्ड में भी ये मरकतमणि (हरे रंग की मणि) जटित, सोने ओर रत्नों के (बने हुए) नककाशीदार तोरण इन्द्र धनुष की सी शोभा दिखा रहे हैं। शिल्पीगण वैदूर्य, मोती, मूँगा, पुष्पराग, इन्द्रनील, कर्केतरक, पद्मराग, मरकत आदि विशिष्ट रत्नों का आपस में विचार कर रहे हैं। सोने में मणियाँ जड़ी जा रही हैं। सोने के जेवर गढ़े जा रहे हैं। लाल डोरे से मोतियों के आभूषण गूँथे जा रहे हैं।

---

1 "... दूरादेव महाजनस्य विहरत्यल्पच्छदो लज्जया ...।" वही, अङ्क 1-37

2 यदीच्छसि लम्बदशाविशालं प्रावारकं सूत्रशतैर्हि युक्तम्।। वही, अङ्क 8-22

3 वही, अङ्क 8-31

धीरे-धीरे वैदूर्य मणियाँ घिसी जा रही हैं। शङ्ख काटे जा रहे हैं। मूँगे सान से खरादे जा रहे हैं। गीली केशरों की तहें सुखाई जा रही हैं। कस्तूरी चलाई जा रही है। चन्दन विशेष रूप से घिसा जा रहा है। गन्ध मिलाये जा रहे हैं। वेश्या और कामुक को कपूर मिला हुआ पान दिया जा रहा है। ....।''[1]

वसन्तसेना कमर में मोतियों से अद्भुत अतएव मनोहर मेखला या करधनी पहनती है।[2] वह नुपूर, कंगन आदि अलङ्कारों को धारण करती है। वसन्तसेना, गले एवं अनेक स्थानों में सोने के जेवर पहनती है। यह शकार के एक कथन से स्पष्ट होती है।[3] समाज में सामान्य स्त्रियाँ भी पावजेब या नूपुर का जोड़ा पहनती थीं, कमर में मणिजटित करधनियाँ या मेखलाएं तथा छोटे-छोटे रत्नों से मढ़े हुए अच्छे अच्छे कंगन पहनती थीं।[4] चारुदत्त की पत्नी धूता जो पहले धनी थी, किन्तु बाद में निर्धन हो गयी थी, उसके पास अपने मायके से प्राप्त रत्नावली है। इस रत्नावली को धूता चारुदत्त के चरित्र

---

[1] आश्चर्यं भोः, इहापि षष्ठे प्राकोष्ठेऽमूनि तावत्सुवर्णरत्नानां कर्मतोरणानि नीलरत्नविनिक्षिप्तानीन्द्रायुधस्थानमिव दर्शयन्ति। वैडूर्यमौक्तिकप्रवालक-पुष्परागेन्द्रनील-कर्केतरकपद्मरागमरकतप्रभृतीन्रत्नविशेषानन्योन्यं विचारयन्ति शिल्पिनः। बध्यन्ते जातरूपैर्माणिक्यानि। घट्यन्ते सुवर्णालंकाराः। रक्तसूत्रेण ग्रथ्यन्ते मौक्तिकाभरणानि घृष्यन्ते धीरं वैडूर्याणि। छिद्यन्ते शङ्खा। शाणैर्धृष्यन्ते प्रवालकाः। शोष्यन्त आर्द्रकुङ्कुमप्रस्तराः। सार्यते कस्तूरिका। विशेषेण घृष्यते चन्दनरसः। संयोज्यन्ते गन्धयुक्तयः। दीयते गणिकाकामुकयोः सकर्पूरं ताम्बूलम्।'' वही, अङ्क 4, पृ. 296-297

[2] ''किं त्वं कटीतटनिवेशितमुद्वहन्ती, ताराविचित्ररुचिरं रशनाकलापम्।।'' वही, अङ्क 1-27

[3] ''हंहो, नूनं परिशून्या या मोघस्थानया ग्रीवालिकया निःसुवर्णकैशभरण-स्थानैस्तर्कयामि।'' वही, अङ्क 9, पृ. 575

[4] विचलति नूपुरयुगलं छिद्यन्ते च मेखला मणिखचिताः।
वलयाश्च सुन्दरतरा रत्नाङ्कुरजालप्रतिबद्धाः।। वही, अङ्क 2-19

की रक्षा के लिए वसन्तसेना को देने के लिए मैत्रेय को सौंप देती है। एक स्थल पर वसन्तसेना अपने समस्त स्वर्णाभूषणों को चारुदत्त के पुत्र रोहसेन को खेलने के लिए उसे सौंप देती है। इससे यह प्रतीत होता है कि उस समय स्त्रियाँ कितना भी आभूषण प्रिय हों, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर उसका त्याग करने में थोड़ा भी संकोच नहीं करती हैं।

स्त्रियों के साथ-साथ पुरुष भी आभूषण प्रिय होते थे। एक स्थल पर चारुदत्त कर्णपूरक को पुरस्कार देने के लिए अपने जेवर पहनने के खाली अङ्गों को छूता है, जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पुरुष भी शरीर के विभिन्न अङ्गों में अँगूठी, सिकड़ी आदि आभूषण पहनते थे। वसन्तसेना का भाई एक ही आभूषण को द्विगुणित करके पहना हुआ है।[1]

मृच्छकटिकम् में स्त्री एवं पुरुष दोनों शृङ्गार प्रिय हैं। स्त्रियाँ अपने बालों को विभिन्न प्रकार से सजाती थीं। कभी-कभी अपने बालों को फूलों से भी सजाती थीं। वसन्तसेना लाल कमलों की कलियाँ केशपाश में गुंथे हुए थी।[2] स्त्रियाँ आँखों को आकर्षक बनाने के लिए उसमें काजल लगाती थीं।[3] छठे प्रकोष्ठ में विदूषक विभिन्न प्रकार के शृङ्गार सामग्रियों का उल्लेख करता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रियाँ केशर कस्तूरी, चन्दन आदि शृङ्गार सामग्रियों का प्रयोग अपना शृङ्गार करने में करती थीं।

स्त्रियों के समान पुरुष भी अपनी केश सज्जा में विशेष रुचि रखते थे। पुरुष बालों में गाँठ लगाते थे, जूड़ा बाँधते थे तथा कभी-कभी घुंघराले बाल भी रखते थे। शकार अपने केश-सज्जा का उल्लेख करता है- "मेरे

---

[1] भवति। क एस पट्टप्रावारकप्रावृतोऽधिकतरमत्यद्भुतपुनरुक्तालंकारालङ्कृतोऽङ्गभङ्गैः परिस्खलन्नितस्ततः परिभ्रमति? वही, अङ्क 4, पृ. 301

[2] वही, अङ्क 1-20

[3] वही, अङ्क 5-23

शिर के बालों में एक क्षण में गांठ लगती है, तो दूसरे क्षण में जुड़ा बँधती है। क्षण भर में मामूली बाल बन जाते हैं, तो दूसरे क्षण में घुंघराले बाल बन जाते हैं। पुनः क्षणभर में ही वे विखेर दिये जाते हैं तो क्षण भर में ही ऊपर की ओर जूड़ा बन जाते हैं। मैं बड़ा ही चित्र-विचित्र राजा का साला हूँ।[1]

स्त्रियाँ जूता पहनती थीं। वसन्तसेना की माता अपने तेल से चिकने दोनों पैरों को जूते में डालकर आसन पर बैठी है।[2] पुरुष जूता पहनते थे, अथवा नहीं, ऐसा कोई उल्लेख मृच्छकटिकम् में नहीं है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि मृच्छकटिकम् में वस्त्रों का अधिक उल्लेख नहीं है, किन्तु आभूषणों का अत्यधिक उल्लेख होने से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में आभूषणों का पर्याप्त विकास हो गया था तथा शृङ्गार पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

2. दशकुमारचरितम् में वर्णित वस्त्र एवं आभूषण

दशकुमारचरितम् के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि दण्डी ने इस ग्रन्थ में मुख्यतः समाज के सम्पन्न वर्ग के लोगों के वस्त्राभूषण का विशेष उल्लेख किया है। दण्डी द्वारा समर्थित चौसठ परम्परागत कलाओं, जिनके प्रति समाज यथेष्ट रुचि लेता था, में करीब पन्द्रह कलाएं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वेशभूषा, आभूषण के शृङ्गार के उत्पादक तत्त्वों तथा उपयोग से सम्बन्धित थीं।[3] इससे परिधान एवं शृङ्गार के प्रति उस समय के लोगों के दृष्टिकोण का पता चलता है।

---

1 क्षणेन ग्रन्थिः क्षणजूलिका मे क्षणेन बालाः क्षणकुन्तला वा।
क्षणेन मुक्ताः क्षणमूर्ध्वचूडाश्चित्रो विचित्रोऽहं राजश्यालः।। वही, अङ्क 9-2

2 भवति! एषा पुनः का पुष्पप्रवारकप्रावृतोयानद्युगलनिक्षिप्ततै-
लचिक्कणाभ्यां पादाभ्यामुच्चासन उज्वविष्टा तिष्ठति। वही, अङ्क 4, पृ. 303

3 गुप्ता डी.के.; सोसायटी एण्ड कल्चर इन दि टाइम ऑफ दण्डिन्, पृ. 255

दशकुमारचरितम् में वेशभूषा से सम्बन्धित विशेष जानकारी का अभाव है, तथपि यथा स्थान कुछ वस्त्रों की जानकारी हो जाती है। वेशभूषा के विचार से उस समय का समाज पर्याप्त विकसित हो चुका था। सिलाई की कला ज्ञात होने पर भी ज्यादातर परिधान बिना सिले हुए होते थे। अनेक वस्त्रों को विविध तरीकों से सिलाई करके सजाया जाता था। पुरुष एवं महिलाएं दोनों उत्तरीय का प्रयोग करते थे। अधिकतर महिलाएं रंगीन वस्त्र पहनती थीं। स्त्री-पुरुष दोनों अपने शरीर को ढकने के लिए दो वस्त्रों का प्रयोग करते थे। एक कमर से नीचे के भाग को आवृत करने के लिए और दूसरा कटि के ऊपर के भाग को आवृत करने के लिए प्रयोग करते थे। ऊपर का वस्त्र उत्तरीय और नीचे का अधोवस्त्र कहलाता था। पुरुष लोग सम्भवतः वेस्टन या पगड़ी का प्रयोग करते थे, यह पगड़ी सिर पर बाँधी जाती थी। राजाओं, सामन्तों एवं राजकुमारों द्वारा सिर पर विविध प्रकार के रत्नजटित पगड़ी तथा मुकुट धारण किये जाते थे। स्त्री की वेशभूषा के प्रायः तीन वस्त्र होते थे उत्तरीय, घाघरा और स्तनांशुक। स्तनांशुक आधुनिक चोली या स्तनपट्ट के समान होता था, यह स्तनों को विशेष रूप से ढकने के लिए था। स्त्री का कमर के नीचे का वस्त्र घाघरे के समान था।

त्योहारों, उत्सवों तथा समारोहों पर विशेष रूप से रेशमी वस्त्र प्रयोग किये जाते थे। धनिक वर्ग की वेशभूषा अत्यन्त अलङ्कृत हुआ करती थी। वे लोग बहुमूल्य क्षौम तथा कौशेय वस्त्र धारण करते थे। दशकुमारचरितम् में अनेक स्थलों पर रेशमी वस्त्रों के प्रयोग करने का उल्लेख प्राप्त होता है। रेशमी वस्त्रों को उपहारस्वरूप देने की भी परम्परा थी। राजकुमारी अम्बालिका कान्तक को मुद्रा, सुगन्धित पान, रेशमी वस्त्रों की जोड़ी और भाँति भाँति के

गहनों से भरी सन्दूकची भिजवाती है।[1] कमर के किनारे बघनखा लगाये रेशमी वस्त्र पहने, पतली कमर और चौडी छाती वाला धनमित्र हाथी पर बैठा हुआ प्रकट होता है।[2] रेशमी वस्त्र दो प्रकार के होते थे- कौशेय तथा चीनांशुक। कौशेय वस्त्र देश में ही तैयार होते थे और चीनांशुक वस्त्र चीन से मंगाया जाता था। चीनांशुक उस समय राजपरिवारों एवं धनिक लोगों में सर्वाधिक लोकप्रिय था। धनिक स्त्रियाँ चीनी रेशम पसंद करती थीं।[3] कामदेव की पूजा के अवसर पर अवन्तिसुन्दरी चीनी रेशमी वस्त्रों के साथ उपस्थित होती है।[4]

ब्राह्मणों एवं ब्रह्मचारियों की वेशभूषा साधारण होती थी। समान्यतया श्वेत वस्त्र अधिक पहने जाते थे। आश्रमवासी एक अथवा दो वस्त्रों से काम चलाते थे एवं साधारण कपड़े पहनते थे। काममञ्जरी महर्षि मारीच के आश्रम में स्वयं धुले कपड़ों का जोड़ा पहनती है, जो अत्यन्त साधारण होते हैं। वह आश्रम में रहते हुए कभी साज-शृङ्गार भी नहीं करती है।[5] इससे स्पष्ट होता है कि आश्रम में रहने वाले स्त्री एवं पुरुष तथा छात्र एवं ऋषि सामान्य लोगों से भिन्न कामचलाऊ साधारण कपड़े पहनते थे। कामी लोगों की भी अपनी अलग वेशभूषा होती थी। ऋषियों एवं कामी पुरुषों की वेशभूषा में काफी अन्तर होता था। ऋषि मारीच ने नहा धोकर चन्दनादि का लेप कर तथा

---

1 सायं च राजकन्याङ्गुलीयकमुद्रितां वासताम्बूलपट्टांशुकयुगलभूषणावयवगर्भां च वङ्गेरिकां ...। झा, विश्वनाथ, दश., 30-2, पृ. 64

2 वही, उ. 1, पृ. 15

3 वही, उ. 2, पृ. 69

4 गन्धकुसुमहरिद्राक्षतचीनाम्बरादिनानाविधेन परिमलद्रव्यनिकरेण मनोभवमर्चयन्ती रेमे। वही, पू. 5, पृ. 104

5 वही उ. 2 पृ. 24

मनोहर पुष्पमाला पहन कामी पुरुष का वेष धारण कर लिया था।[1] साधु, यति आदि श्वेत वस्त्र पहनते थे, जब कि सामान्य लोग रंगीन वस्त्रों का अधिक उपयोग करते थे। श्वेताम्बरजैन मतानुयायी श्वेत वस्त्र पहनते थे, किन्तु दिगम्बर जैन मतानुयायी विलकुल निर्वस्त्र रहते थे। विरूपक अपनी लंगोटी या कौपीन का त्यागकर जैन मठ में रहता था।[2] संभवतः वह दिगम्बर जैन मतानुयायी होने के कारण ही नग्न रहता था।

विशेष अवसरों पर लोग विशेष प्रकार के सिले हुए वस्त्र भी पहनते थे। अपहारवर्मा द्वारा चोरी के लक्ष्य से निकलते समय नीले रंग के अर्धोरुक या लबादा पहनने का प्रसंग प्राप्त होता है।[3] कभी-कभी स्त्रियाँ भी एक ही रंग के कपड़े पहनती थीं। प्रमति बताता है कि वंशचरित्र का पालन करती हुई एक वेणीधारिणी नीले कपड़े के टुकड़े से बनी चुड़िका (पूरे शरीर को ढकने वाला एकमात्र कपड़ा) पहने थी, मानो वह पतिव्रत की ध्वजा थी।[4]

दशकुमारचरितम् के समाज में स्त्री और पुरुष दोनों ही आभूषण प्रिय थे। आभूषण रत्नजड़ित, स्वर्ण और मोती के होते थे। विविध प्रकार के आभूषण मस्तक पर कानों, गले, भुजा, कलाई, अंगुली, कटि और पैरों में पहने जाते थे। सोती हुई अम्बालिका का वर्णन करते समय दण्डी वस्त्राभूषण से सम्बन्धित विविध जानकारी प्रदान कर देते हैं। अपहारवर्मा कहता है कि 'अम्बालिका के कुछ तिरछी और सुन्दर ग्रीवा के प्रदेश पर दिख रहे खूब तपे सोने के तार पर लाल माणिक्य से बना रुचक (गले का एक गहना) लटक

---

1 उत्तरेद्युः स्नातानुलिप्तमारचितमञ्जुमालमारब्धकामिजनवृत्तं। वही, उ. 2, पृ. 29

2 वही, उ. 2, पृ. 33

3 .... तमसि नीलनिवसनार्धोरुकपरिहितो। वही, उ. 2, पृ. 37

4 कुलचरित्रबन्धनपाशविभ्रमेणैकवेणीभूतेन केशपाशेन नीलांशुकचीर-चूडिकापरिवृता पतिव्रतापताकेव सचरन्ती। वही, उ. 5, पृ. 149

रहा था, आधा दिख रहे सुन्दर नीचे के दबे कान पर कुण्डल स्थिर था, ऊपर स्थित खुले हुए सुन्दर कान पर पड़ी रत्न-निर्मित कर्णिका (कान का एक गहना) की छोटी-छोटी किरणों से पिशङ्ग (लाल-पीला) और टेढ़ा बँधा हुआ केश-कलाप कस गया था।[1] मस्तक पर धारण किये जाने वाले आभूषण चूड़ामणि, रत्नजाल या मुक्ताजाल शिखामणि और राजाओं के लिए किरीट मुकुट कहलाते थे। कानों के रत्नजड़ित आभूषण स्त्री और पुरुष दोनों ही पहनते थे। पुरुष बालियाँ एवं कुण्डल पहनते थे। स्त्रियों द्वारा कान में पहने जाने वाले आभूषण, कर्णफूल, कुण्डल और कनकमण्डल कहलाते थे। कण्ठ और गले के आभूषणों में मोतियों तथा मणियों की माला अथवा हार होते थे, स्वर्णहार भी होते थे। सोने के रत्नजड़ित भुजबन्द स्त्री-पुरुष पहनते थे। हाथों की अँगुलियों में अँगूठियों पहनी जाती थीं। कटि के आभूषण मेखला, रसना, आदि थे। पैरों में पाजेब, नुपूर तथा कड़े पहने जाते थे। पुष्पोद्भव कहता है कि "मैं भी मनोहर वेष को धारण कर स्त्रियोचित आभूषण समूह जैसे- मणिजटित पायल, करधनी, कङ्गन, विजायठ, कनपासा, हार, रेशमी साड़ी और कज्जल को उन-उन अङ्गों में चतुरतापूर्वक धारण कर प्रियतमा बाल-चन्द्रिका के साथ दारुवर्मा के गृह-द्वार के समीप गया।"[2]

आभूषणों के अलावा अन्य साधनों से भी श्रृंगार करने की परम्परा थी। स्त्रियाँ अपने बालों को सजातीं, फूल लगातीं, आँखों में काजल लगाती

---

1 "आतिरश्चीनबन्धुरशिरोधरोद्देशदृश्यमाननिष्टप्ततपनीयसूत्रपर्यस्तपद्मरागरुचकम्, अर्धलक्ष्याधरकर्णपाशनि भृतकुण्डलम्, उपरिपरावृत्तश्रवणपाशरत्न-कर्णिकाकिरणमञ्जरीपिञ्जरितविषमव्याविद्धाशिथिलशिखण्डबन्धम्।" वही, उ. 2, पृ. 69-70

2 "अहमपि मणिनुपूरमेखलाकङ्कणकटकताटङ्कहारक्षौमकज्जलं वनितायोग्यं मण्डनजातं निपुणतया तत्तत्स्थानेषु निक्षिप्य सम्यगङ्गीकृतमनोज्ञवेषो वल्लभया तया सह तदागारद्वारोपान्तमगच्छम्।" वही, पू. 4, पृ. 96-97

तथा होठों पर अलक्त लगाती थीं। प्रमति कहता है कि 'राजकुमारी नवमालिका के मणि तुल्य निचले होंठ की प्रभा मूंगे की तरह लाल है।'[1] शृंगार के लिए स्त्रियाँ सुगन्धित फूलों के साथ-साथ अनेक गन्धों से युक्त पान का भी सेवन करती थी, जिससे शृंगार के बाद मुँह की शोभा बढ़ जाती थी एवं शरीर सुगन्धि से महकने लगता था। चारुवर्मा ने बालचन्द्रिका को सुवर्ण और मणियों के बने आभूषण, सूक्ष्म छापे की साड़ी, कस्तूरी मिले चन्दन, कपूर युक्त पान और सुगन्धित पुष्पादि वस्तु समूह दिये।[2] महिलाओं में गणिकाएं अत्यधिक आभूषणप्रिय थीं। शृंगालिका नामक दूती अपहारवर्मा से कहती है कि 'निश्चय ही रूपाजीवाओं (सुन्दरता जिनकी जीविका है अर्थात् वेश्याओं) की प्रधान वस्तु आभूषण है, इसलिए बतायें कि आपके आभूषण कहाँ रखे हैं।'[3] दण्डी का यह कथन गणिकाओं का आभूषणों एवं शृंगारों पर उनकी निर्भरता द्योतित करता है। पुरुष भी विविध प्रकार के आभूषण धारण करने एवं अनेक प्रकार के अवलेपनों से शृंगार करते थे।

केशों में पुष्पों का गूँथना और पुष्पमालाएं धारण करना स्त्रियों के शृंगार सौंदर्य की एक विधि थी। केशों को विविध प्रकार से सजाने, मुख पर पराग और लाली लगाने तथा विविध प्रकार के आभूषण पहनकर अपने सौंदर्य की वृद्धि करने में लोगों का अधिक ध्यान रहता थ। स्त्री-पुरुष दोनों लम्बे केश रखते थे। स्त्रियाँ केशों को धूप, अगरु और चन्दन के धुएं से सुखाती थीं जिससे कि उनकी सुगन्धि उनमें बस जाती थी। वृद्ध गणिका

---

1 वही, उ. 5, पृ. 145

2 "चामीकरमणिमयमण्डनानि सूक्ष्माणि चित्रवस्त्राणि कस्तूरिकामिलितं हरिचन्दनकर्पूरसहितं ताम्बूलं सुरभीणि कुसुमानीत्यादिवस्तुजातं समर्प्य मुहूर्तद्वयमात्रं हासवचनैः संलपन्नतिष्ठत्।" वही, पू. 4, पृ. 98

3 "अकल्पसारो हि रूपाजीवाजनः। तद्ब्रूहि क्व निहितमस्या भूषणम्।" वही, उ. 2, पृ. 59

महर्षि मारीच के आश्रम में बालों की सफेदी से अनेक रंग वाले केश का जूड़ा बाँधे हुए उपस्थित होती है।[1] दशकुमारचरितम् में अनेक स्थलों पर काले चमकते सुन्दर बालों का वर्णन किया गया है। अवन्तिसुन्दरी ने अपने केश में फूल गूंथ रखे थे जो मोरपंख के चमकीले चन्द्र से लगते थे, जैसे भौरे उन पर गूँजते हुए मंडरा रहे थे।

स्त्रियों के लिए गन्ध तथा पुष्प कलाओं का ज्ञान ज्यादा उपयुक्त माना जाता था। वृद्ध गणिका अपनी पृत्री को गन्ध, पुष्प आदि कलाओं को सीखने पर बल देती है।[2] सुगन्धि और शृंगार के लिए लोग स्नान करने वाले जल में विविध सुगन्धि सामग्री घोल देते थे, जिससे शरीर सुगन्धित रहे और आकर्षक दिखे। राजवाहन कहता है कि ऐसा लगता है कि जैसे कामदेव ने अवन्तिसुन्दरी को समस्त सुगन्धित पदार्थ जैसे पुष्पों के पराग एवं कस्तूरी मिश्रित चन्दन रस से उसे नहलाकर कर्पूर का पराग छिड़क दिया हो।[3] मित्रगुप्त की कथा में गोमिनी ने ऑवला पीसकर कमल गन्ध डाल दी, तत्पश्चात् माँ से अतिथि शक्तिकुमार को स्नान करने को कहलाया एवं तेल, आंवला अतिथि को दी।[4] लेखक द्वारा प्रस्तुत इन विवरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि लोग सुगन्धिपूर्ण जल से स्नान करते थे तथा स्नान में अनेक सुगन्धित पदार्थों एवं अवलेपनों का प्रयोग करते थे।

---

1 वही, उ. 2, पृ. 19

2 वही, उ. 2, पृ. 20

3 "समस्तमकरन्दकस्तूरिकासम्मितेन मलयजरसेनप्रक्षाल्य कर्पूरपरागेण सम्मृज्य निर्मितेव रराज।" - वही, पू. 5, पृ. 109

4 "तदप्यामलकं श्लक्ष्णपिष्टमुत्पलगन्धि कृत्वा धात्रीमुखेन स्नानाय तमचोदयत्। तया च स्नानशुद्धया दत्ततैलामलकः क्रमेण सस्नौ।" - वही, उ. 6, पृ. 193

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि दशकुमारचरितम् में वेशभूषा एवं आभूषण काफी विकसित अवस्था में है।

3. विमर्श

समानता - मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् के अनुशीलन से दोनों ग्रंथों में वर्णित वस्त्र एवं आभूषण में अत्यधिक समानता दृष्टिगोचर होती है। दोनों ही ग्रन्थों में वस्त्रों से सम्बन्धित विस्तृत जानकारी का अभाव है, किन्तु आभूषण प्रयोग एवं शृंगार से सम्बन्धित जानकारी महत्त्वपूर्ण है। दोनों ग्रंथों से स्पष्ट होता है कि वैयक्तिक रुचि एवं अपने सामाजिक स्तर के अनुसार व्यक्ति पृथक्-पृथक् परिधान पहनते थे।

दोनों ग्रंथों से ज्ञात होता है कि पहनावे में सिले हुए वस्त्रों का प्रचलन था, किन्तु उनका प्रयोग बहुत कम होता था। स्त्री-पुरुष दोनों दो-दो वस्त्र पहनते थे। ऊपर के भाग को उत्तरीय एवं नीचे के भाग को अधोवस्त्र कहा जाता था। स्त्रियाँ सामान्यतः रंगीन वस्त्र पहनती थीं। दोनों ग्रंथों में सम्पन्न स्त्री-पुरुष मुख्य रूप से रेशमी वस्त्र पहनना पसंद करते थे। मृच्छकटिकम् में वसन्तसेना, उसकी माता तथा उसका भाई[1] रेशमी वस्त्र पहने हुए दृष्टिगोचर होते हैं। दशकुमारचरितम् में भी सम्पन्न राजा, राजकुमारियाँ एवं राजकुमार अनेक बार रेशमी वस्त्र पहने हुए दृष्टिगोचर होते हैं। दोनों ग्रन्थों से स्पष्ट होता है कि पुरुष वर्ग सामान्यतः सफेद रंग का वस्त्र अधिक पसंद करते थे।

दोनों ग्रंथों से स्पष्ट होता है कि पुरुषों द्वारा सिर पर पगड़ी रखने का प्रचलन था। मुख्य रूप से राजवर्ग में यह प्रथा विद्यमान थी। मृच्छकटिकम् में राजश्यालक शकार सिर पर पगड़ी रखे हुए दृष्टिगोचर होता है।[2]

---

[1] डॉ. त्रिपाठी, रमाशङ्कर, मृच्छ., अङ्क 4, पृ. 301

[2] मृच्छकटिकम् अङ्क 8-31

दशकुमारचरितम् में भी राजा, सामंत एवं राजकुमारों द्वारा पगड़ी एवं मुकुट सिर पर पहने जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।

दोनों ग्रन्थों से स्पष्ट होता है कि शारीरिक सौंदर्य की वृद्धि तथा आकर्षण उत्पन्न करने के लिए आभूषणों का प्रचुर प्रयोग किया जाता था। स्त्री-पुरुष दोनों आभूषणों के अत्यधिक प्रेमी थे। आभूषण मुख्य रूप से स्वर्ण से निर्मित होते थे। कभी-कभी विभिन्न रत्नों को स्वर्ण में जड़कर अत्यन्त आकर्षक आभूषण बनाये जाते थे।

स्त्रियाँ शरीर के विभिन्न अंगों में विभिन्न प्रकार के आभूषण पहनती थीं। वे मुख्यतः मस्तक, कान, गला, भुजा, कलाई, अंगुली, कमर एवं पैर में विभिन्न प्रकार के आभूषण पहनती थीं। वे मुख्य रूप से पायल, करधनी, कंगन, कनपासा तथा हार आदि आभूषण धारण करती थीं। ये आभूषण स्वर्ण, मोती, मणि एवं अनेक प्रकार के रत्नों से निर्मित होते थे। दोनों ग्रंथों में पुरुष भी विभिन्न प्रकार के आभूषण पहने हुए दृष्टिगोचर होते हैं। मृच्छकटिकम् में निर्धन चारुदत्त द्वारा अपनी समृद्धि-काल में अंगूठी, सिकड़ी आदि आभूषण पहनने का उल्लेख प्राप्त हुआ है।[1] दशकुमारचरितम् में भी सम्पन्न पुरुषों द्वारा बालियाँ तथा कुण्डल आदि आभूषण पहनने का उल्लेख मिलता है।

दोनों ग्रन्थों से स्पष्ट होता है कि स्त्री-पुरुष दोनों शृंगार के अत्यधिक प्रेमी थे। दोनों ग्रन्थों से ज्ञात होता हे कि आभूषणों के अतिरिक्त अन्य साधनों से भी शृंगार करने की परम्परा समाज में व्याप्त थी। स्त्रियाँ अपने केशों को पुष्पों से गुंथती थीं तथा पुष्प-मालाएं धारण कर केशों को अनेक प्रकार से सजाती-संवारती थीं। स्त्री-पुरुष दोनों लम्बे बाल रखते थे। स्त्रियों के साथ-

---

[1] डॉ. त्रिपाठी, रमाशङ्कर, मृच्छकटिकम्, अङ्क 2 पृ. 175

साथ पुरुष भी केश सज्जा में विशेष रुचि लेते थे। मृच्छकटिकम् में शकार अपनी केश-सज्जा में विशेष रुचि लेता हुआ दृष्टिगोचर होता है।[1] दोनों ग्रन्थों से स्पष्ट होता है कि स्त्रियाँ अपनी आँखों को आकर्षक बनाने के लिए उसमें काजल लगाती थीं। दोनों ग्रंथों में केसर, कस्तूरी, चन्दनादि शृंगार सामग्रियों का प्रयोग किये जाने का उल्लेख मिलता है।[2]

विषमता - दोनों ग्रंथों के समाज में वस्त्राभूषण एवं शृंगार में कुछ विषमताएं भी विद्यमान हैं। मृच्छकटिकम् में समाज के सम्पन्न एवं निर्धन दोनों वर्गों के वस्त्राभूषण से सम्बन्धित जानकारी उपलब्ध होती है जब कि दशकुमारचरितम् में मुख्यतः राजवर्ग एवं अत्यन्त धनी वर्ग से सम्बन्धित वेशभूषा एवं आभूषण की जानकारी प्राप्त होती है।

मृच्छकटिकम् के अध्ययन से ज्ञात होता है कि धनी वर्ग के लोग मुख्यतः रेशमी वस्त्रों का प्रयोग करते थे तथा निर्धन वर्ग के वस्त्र जीर्ण-शीर्ण होते थे। चारुदत्त के अनुसार निर्धन व्यक्ति अत्यल्प वस्त्रों से अपने तन को ढके रहता है। इस कारण वह सम्पन्न लोगों से दूर ही रहता है।[3] दशकुमार-चरितम् से ज्ञात होता है कि धनी वर्ग एक विशेष प्रकार का रेशमी वस्त्र जिसे चीनांशुक कहा जाता था; एवं चीन से इसका आयात किया जाता था, अधिक पसंद करता था।

दशकुमारचरितम् में त्यौहरों, उत्सवों तथा समारोहों पर धनी वर्गों द्वारा विशेष रूप से रेशमी वस्त्रों का प्रयोग करने का उल्लेख मिलता है, किन्तु मृच्छकटिकम् में सामान्य अवसरों पर भी धनी वर्ग रेशमी वस्त्रों का प्रयोग करते थे।

---

1 वही, मृच्छ. अङ्क 9-2

2 मृच्छकटिकम्, अङ्क 4, पृ. 297 दशकुमारचरितम्, पू0 5, पृ. 109

3 मृच्छकटिकम्, अङ्क 1-37

मृच्छकटिकम् में विवाहिता स्त्रियों द्वारा एक विशेष वस्त्र से सिर पर घुंघट करने का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] दशकुारचरितम् में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता है। मृच्छकटिकम् में एक बौद्ध भिक्षु का उल्लेख प्राप्त होता है जो चीवर पहनता है। दशकुमारचरितम् में विरूपक नामक एक जैन साधु का उल्लेख प्राप्त होता है,[2] जो निर्वस्त्र होकर मठ में रहता है। दशकुमारचरितम् में ब्राह्मणों, ब्रह्मचारियों तथा आश्रमवासियों द्वारा साधारण वस्त्र पहनने का उल्लेख प्राप्त होता है।

मृच्छकटिकम् से स्पष्ट होता है कि समाज के सामान्य वर्ग की स्त्रियाँ भी शरीर के विभिन्न अङ्गों यथा हाथ, पैर, कमर आदि में विभिन्न प्रकार के आभूषण पहना करती थीं।[3] दशकुमारचरितम् में सामान्य वर्ग की स्त्रियों द्वारा आभूषण पहनने का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

मृच्छकटिकम् में एक सम्पन्न स्त्री द्वारा पैरों में जूता पहनने का उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु दशकुमारचरितम् में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता है।

दशकुमारचरितम् से स्पष्ट होता है कि समाज में सुगन्धिपूर्ण जल से स्नान करने एवं स्नान में अनेक सुगन्धित पदार्थों एवं अवलेपनों के प्रयोग करने का प्रचलन था।[4] मृच्छकटिकम् में स्नान में इन पदार्थों के उपयोग करने का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

---

1 मृच्छकटिकम्, अङ्क 4-24

2 दशकुमारचरितम्, उ. 2, पृ. 33

3 मृच्छकटिकम्, अङ्क 2-19

4 दशकुमारचरितम्, उ. 6, पृ. 193

निष्कर्ष - मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् में वर्णित वस्त्र एवं आभूषण का तुलनात्मक अध्ययन करने पर स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि दोनों ग्रंथों के समाज में सामान्यतः एक ही प्रकार के वस्त्र एवं आभूषणों का प्रयोग किया जाता था। दोनों ग्रन्थों के रचना-काल में समाज में वस्त्राभूषण से सम्बन्धित रिवाजों में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ था। इस तथ्य की पुष्टि इन दोनों ग्रंथों के साथ-ही-साथ अन्य तत्कालीन ग्रंथों से भी हो जाती है।

दोनों ग्रंथों से स्पष्ट होता है कि स्त्री-पुरुष दो वस्त्र पहनते थे; ऊपरी वस्त्र को उत्तरीय एवं निचले वस्त्र को अधोवस्त्र कहा जाता था। ऋग्वैदिक काल में भी स्त्री-पुरुष प्रायः दो वस्त्र अधिवास (उत्तरीय) एवं नीवी (अधोवस्त्र) पहनते थे। महाभारत में भी ऊर्ध्व वस्त्र के लिए उत्तरीय या प्रावार शब्द का प्रयोग किया गया है।[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों वस्त्र प्रारम्भ से ही भारतीय समाज में पहनावे के मुख्य अङ्ग रहे हैं।

दोनों ग्रंथों से स्पष्ट होता है कि पुरुष वर्ग अपने सिर पर पगड़ी रखते थे। दशकुमारचरितम् से ज्ञात होता है कि राजवर्ग अपने सिर पर पगड़ी या मुकुट धारण करते थे। सिर पर पगड़ी रखने का रिवाज भी भारतीय समाज में अत्यन्त-प्राचीन काल से रहा है। महाकाव्य काल में भी समाज के सभी वर्गों के सदस्य चाहे वे धनी रहे हों अथवा निर्धन, पगड़ी धारण करते थे।[2] सिर पर पगड़ी एवं मुकुट धारण करने की प्रथा भारत में बहुत बाद तक चलती रही है। वर्तमान समाज में भी कुछ लोग पगड़ी पहनना पसंद करते हैं।

---

1 महाभारत, 3.46.15; 1.49.9

2 महाभारत, 5.153.18-20; 6.16.22; 6.70.7

दोनों ग्रंथों में उल्लेख प्राप्त होता है कि स्त्रियाँ सामान्यतः रंगीन वस्त्र पसंद करती थीं। कालिदास ने भी लाल, नीला, श्वेत, श्याम, केसरिया आदि रंगों के वस्त्रों का समाज में प्रचलन का उल्लेख किया है।[1] आधुनिक समय में भी भारतीय समाज में स्त्रियों द्वारा रंगीन वस्त्रों को अत्यधिक पसंद किया जाता है।

पुरुष वर्ग श्वेत रंग के वस्त्र पसन्द करते थे। प्राचीन काल से ही शुभ और अशुभ कल्याण के लिए श्वेत रंग का काफी महत्त्व रहा है। सदा की भांति दोनों ग्रन्थों के रचना-काल में भी श्वेत परिधान कल्याणकारी माना जाता था। यही बात दोनों ग्रन्थों से भी स्पष्ट होती है।

दशकुमारचरितम् में 'चीनांशुक' नामक एक विशेष प्रकार के रेशम का उल्लेख मिलता है, जिसका आयात चीन से किया जाता था। धनी लोगों द्वारा यह अत्यधिक पसंद किया जाता था। अन्य तत्कालीन ग्रन्थों से भी यह आभास मिलता है। मृच्छकटिकम् से पूर्ववर्ती ग्रन्थ कुमारसंभव से भी इसका आभास मिलता है।[2] यद्यपि मृच्छकटिकम् में चीनांशुक का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है, तथपि कहा जा सकता है कि मृच्छकटिकम् के रचना-काल में भी धनी वर्गों में चीनांशुक अत्यधिक पसंद किया जाता होगा।

भारतीय समाज में जूता पहने का रिवाज अत्यन्त प्राचीन काल से रहा है। मृच्छकटिकम् में भी एक स्त्री द्वारा जूता पहनने का उल्लेख है।[3] पैरों में जूता पहनने की परम्परा वर्तमान समय में भी भारतीय समाज में है। इस

---

[1] कालिदास, ऋतुसंहार, 2.25; 3.26; 6.4
रघुवंश, 1.46; 6.6; 9.43, 15.77
विक्रमोर्वशी, 3.12; 4.17

[2] कालिदास, कुमारसंभव, 7.3

[3] मृच्छकटिकम् , अङ्क 4, पृ. 303

आधार पर कहा जा सकता है कि दशकुमारचरितम् के रचना-काल में इस परम्परा का लोप नहीं हुआ था, अपितु दशकुमारचरितम् में उसका उल्लेख नहीं हुआ है।

स्त्री-पुरुष अपने शरीर को सुन्दर और आकर्षक बनाने के लिए अनेक प्रकार के अलङ्कारों का भी प्रयोग करते रहे हैं। मनुष्य की यह सौन्दर्य प्रियता प्राग्वैदिक काल से ही रही है। हड़प्पा, मोहनजोदड़ों के लोग मनके और ताबीज पहनते थे जो सीप की गुरिया के बने होते थे, लेकिन धनिकों के आभूषण सोने चाँदी के बने होते थे। ऋग्वेद से विदित होता है कि स्त्री पुरुष दोनों स्वर्ण और रजत से बने आभूषणों में समान रुचि रखते थे। दोनों अनेक प्रकार के आभूषण पहनते थे, जिनमें रत्न जड़े होते थे। इस युग में अलङ्कारों के विविध प्रकार और रूप विकसित हो गये थे। अजन्ता के भित्तिचित्रों में अनेक आभूषण देखे जा सकते हैं, जिन्हें तद्‌युगीन सभी स्त्री-पुरुष धारण करते थे। हर्षकाल में भी आभूषण प्रायः स्वर्ण, मोती, मुक्ता अथवा रत्न के बने होते थे।[1] यही स्थिति हर्षोत्तर काल में भी थी।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वस्त्र एवं आभूषण की जो परंपरा भारतीय समाज में अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान रही है, उसी परम्परा का पालन दोनों ग्रन्थों के रचना-काल में भी किया जाता रहा, जिसका विवरण इन दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। यद्यपि इस समय के वेशभूषा में थोड़ा विकास अवश्य हो गया था। प्राचीन काल की यह स्थिति वर्तमान समय में भी भारतीय समाज में विद्यमान है। दोनों ग्रन्थों के रचना-काल में स्त्रियों के

---

1 हर्षवर्द्धन, नागानन्द 2.12, रत्नावली, पृ. 25, 276, 318

वस्त्र ऐसे होते थे, जिनसे स्त्री का पूरा शरीर ढक जाता था, किन्तु वर्तमान समय के स्त्री वेश-भूषा में थोड़ा परिवर्तन आ गया है। वर्तमान समय में कुछ स्त्रियों में अल्यल्प वस्त्र पहनने का प्रचलन हो गया है, जिससे उनका पूरा शरीर ढका नहीं रह पाता है। यह स्थिति समाज में हानिकारक है और इससे समाज में अव्यवस्था फैलने का भय व्याप्त हो गया है।

षष्ठ अध्याय

अध्याय-6

(क) 1. मृच्छकटिकम् में वर्णित राजनीतिक स्थिति

मृच्छकटिकम् के अध्ययन से ज्ञात होता है कि देश में छोटे-छोटे राज्य थे, जो साधारणतः आत्मनिर्भर होते थे। उज्जयिनी सम्भवतः एक राज्य था, जिसके अन्तर्गत कुशावती का छोटा राज्य समाहित था, जिसे आर्यक ने राज्यारोहण पर चारुदत्त को प्रदान कर दिया। इन राज्यों में विजय तथा आधिपत्य स्थापना की परस्पर स्पर्धा चलती रहती थी। दुर्बल तथा नृशंस एवं अयोग्य राजाओं के विरुद्ध क्रान्ति एवं विप्लव की योजना का सफल होना अपेक्षाकृत आसान काम था। देश की राजनीतिक दशा बड़ी डांवाडोल थी। आर्यक ने पालक की हत्या कर दी थी।[1] सम्भ्वतः इस समय देश में सार्वभौम सम्राट नहीं था। अनेक राजा थे और वे भी शक्तिहीन थे। राज्यारोहण के समय राज्याभिषेक की प्रथा प्रचलित थी। आर्यक का विधिवत् अभिषेक हुआ था।[2]

राजा की शक्तियाँ अनियंत्रित थीं। राज्य की सर्वोच्च सत्ता का अधिकारी वही था। विधान अथवा कानून भी वही बना सकता था। न्याय-कार्य में भी राजा ही सर्वोच्च अधिकारी था। न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा सेवा मुक्ति वह कर सकता था। शकार ने इसी कारण अधिकरणिक को राजा पालक से कह कर कार्य-मुक्त करने की धमकी दी थी।[3] न्यायाधीश का कार्य

---

1 "आर्यकेणार्यवृत्तेन कुलं मानं च रक्षता।
पशुवद्यज्ञवाटस्थो दुरात्मा पालको हतः।।" - मृच्छ. अङ्क-10/- 51

2 डॉ. त्रिपाठी, रमाशङ्कर, मृच्छ. अङ्क 10/ 47

3 वही, अङ्क 9, पृ. 569

केवल अपराध-निर्णय करना था, शेष अर्थात् निर्णय का कार्यान्वयन अथवा उसकी अन्तिम स्वीकृति राजा के अधिकार सीमा में आती थी। अधिकरणिक ने, इसी कारण, चारुदत्त के अभियोग में निर्णय सुना देने के बाद कहा- "फैसला करने के हम लोग अधिकारी हैं और बाकी बातों के राजा।" [1] इस अनियन्त्रित शक्ति का राजा दुरूपयोग करते थे, यह भी माना जा सकता है।

शासन-प्रबंध की शिथिलता का एक बुरा प्रभाव यह भी था कि राज्य में विद्रोहियों की संख्या वृद्धि पर थी और षडयन्त्रकारियों को अपनी कुत्सित योजनाएँ पूरी करने का अवसर मिलता रहता था। इन षडयन्त्रों में चोर, जुआरी, विद्रोही, राज्य कर्मचारी, असन्तुष्ट पदाधिकारी और राजा द्वारा अपमानित व्यक्ति सम्मिलित रहते थे। इस प्रकार के षडयन्त्रों से राज्य उलटना सहज था। तभी तो शर्विलक ने मदनिका द्वारा आर्यक की रक्षा के लिए राजा पालक का विरोध करते हुए कहा है-जिस प्रकार राजा उदयन की रक्षा के लिए यौन्धरायण ने यत्न किया था, उसी भाँति अपने मित्र आर्यक के उद्धार के लिए राजा कुटुम्बी धूर्त अपनी भुजा के पराक्रम से विख्यात वीर राजा के निरादर से क्रुद्ध तथा मन्त्री आदि राजा के कर्मचारियों को उकसाता हूँ।[2]

उस समय षडयन्त्र का सन्देह होने पर किसी भी पुरुष को पकड़कर अनिश्चित काल के लिए जेल में डाल दिया जाता था। यहाँ राजा पालक ने आर्यक को ऐसे ही जेल में डाल दिया था ।

उज्जयिनी नगरी राजनीतिक क्रान्ति की स्थली रही है। जहाँ राजा पालक क्रान्तिकारी दल के नेता के द्वारा मार डाला गया। पालक अच्छा

---

1 "निर्णये वयं प्रमाणम्; शेषे तु राजा।" - वही, पृ. 633

2 वही, अङ्क 9/43

शासक न था और उसे अपने सैनिक और मन्त्रियों से भी सहायता प्राप्त न थी। दूसरी ओर कैदी आर्यक के प्रति सभी की सहानुभूति थी।

मृच्छकटिकम् के समाज में छोटे-छोटे राज्यों के शासक स्वेच्छाचारी होते थे। पालक भी इसी प्रकार का शासक था। उस समय दण्ड-व्यवस्था यद्यपि मनु के अनुसार थी, तथपि राजा पालक सर्वाधिकार सुरक्षित रखते हुए उसे और कठोर बनाये हुए था। तभी तो उसने अधिकरणिक द्वारा चारुदत्त की मुक्ति के सम्बंध में मनु के उद्धरण की उपेक्षा करके उसे प्राणदण्ड का आदेश दे दिया था।[1]

नगर की रक्षा के लिए सेना होती थी। गुप्तचरों का भी दल नियुक्त रहता था। राजा इन्हीं के माध्यम से राज्य की अथवा अपनी सत्ता की सुरक्षा का प्रयास करता था।[2] नगर के चारों ओर ''प्राकार'' होता था तथा चारों तरफ चार बड़े-बड़े दरवाजे ''प्रतोलिद्वार'' होते थे। 'गुल्मस्थान' का भी उल्लेख है जहाँ प्रहरी रक्षा के लिए पहरे पर तैनात रहते थे। 'प्रधान-दंडाधिकारी' 'पृथ्वी-दण्डपालक' 'नगर-रक्षाधिकारी' 'बलपति' तथा राष्ट्रिक- ये पदाधिकारियों के नाम है, जो नाटक में आए हैं।

नगरी शासन की भी एक झलक मिल जाती है। सड़के तथा गलियाँ बनी हुई थीं। 'राजमार्ग' तथा 'चतुष्पथ' (चौराहा) का उल्लेख हुआ है। सड़कें बरसाती मौसम में, कच्ची हेने के कारण पाँक तथा कीचड़ से भर जाती थीं। जनता से कर वसूल करने के लिए विशेष अधिकारियों की नियुक्ति प्रतीत होती है।[3]

---

1 वही, अङ्क 9, पृ. 634

2 वही, अङ्क 7/8

3 वही, अङ्क 7/1

अभियोग वाले प्रसङ्ग में न्याय-पद्धति का पूरा चित्र उपस्थित हो गया है। न्यायालय को 'अधिकरणिकमण्डप' कहा जाता था। उससे सम्बद्ध एक नौकर होता था। जिसका काम मण्डप की सफाई करना तथा अधिकारियों के बैठने के लिए आसनादि की व्यवस्था करना था। शायद अपराधियों को प्रविष्ट कराना तथा न्यायाधीश की आज्ञाओं का सम्प्रेषण करना भी उसका कर्त्तव्य था। मृच्छकटिकम् में शोधनक यही काम करता है। न्यायालय में भीतर प्रविष्ट होने के पहले लोग बाहर "दूर्वाचत्वर" (घास का छोटा मैदान) में रुके रहते थे। न्यायालय के अधिकारियों की सामूहिक संज्ञा 'अधिकरण भोजक' थी। न्यायाधीश 'अधिकरणिक' कहलाता था। 'कायस्थ' लिपिक का कार्य करता था। 'श्रेष्ठिन' के साथ 'कायस्थ' भी न्यायाधीश की अपराध-निर्णय में सहायता करता था। ये लोग 'नियुक्त' (Assessord) कहलाते थे। चारुदत्त के ऊपर लगाए गए अपराध की परीक्षा करते समय, अधिकरणिक ने न्यायाधीश के गुणों तथा योग्यताओं को वर्णन किया है- "न्यायाधीश होने के कारण, वादी-प्रतिवादी के मनोभावों को समझना न्यायाधीश का कठिन कार्य है। वे सत्य को छिपाते और असत्य अभियोग लिखात हैं। पक्ष एवं प्रतिपक्ष से विवर्धित दोष ही राजा के पास पहुंचते हैं। इस प्रकार न्यायाधीश प्रायः दोषी ठहराया जाता है। क्रुद्ध होकर वादी-प्रतिवादी अन्याय-पूर्ण मिथ्या अभियोग उपस्थित करते हैं। सज्जन लोग भी न्यायालय में अपने दोषों का कथन नहीं करते हैं। इस प्रकार, विचारकर्त्ता का कार्य अत्यन्त कठिन बन जाता है और उस पर दोषारोपण प्रायः किया जाता है तथा उसके गुणों की सही परीक्षा नहीं की जाती है। अतएव, न्यायाधीश को धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र इत्यादि का परिज्ञान होना चाहिए। उसे वादी-प्रतिवादी के कपटपूर्ण व्यवहार को समझने में चतुर होना चाहिए, वक्ता तथा क्रोध नहीं करने वाला होना चाहिए। मित्र, शत्रु, पुत्रादि स्वजनों को समान दृष्टि से देखना तथ उनके अभियोगों पर उचित, निष्पक्ष विमर्श करना न्यायाधीश का पुनीत कर्त्तव्य है।

उसे दुर्बलों का पालक, शठों को दण्ड देने वाला, धर्म-बुद्धि से निर्णय करने वाला, "निर्णय कार्य के वास्तविक तत्त्वों को समझने वाला और राजा के कोष का अपनयन करने वाला होना चाहिए।"[1] अतएव न्यायाधीश का पद बड़ा ही संकटपूर्ण तथा सुकुमार समझा गया है।

न्याय-कार्य को 'व्यवहार' तथा कानूनी तथ्यों को 'व्यवहार-पद' कहा जाता था। लिखित रूप में अभियोग उपस्थित किया जा सकता था और शकार तथा वीरक के उदाहरणों से जान पड़ता है कि न्यायाधीश के पास सीधे अभियोग प्रस्तुत किया जाना संभव था। वादी तथा प्रतिवादी को क्रमशः 'कार्यार्थी' अथवा 'व्यवहारार्थी' तथा 'प्रत्यार्थी' कहा जाता था। वादी, प्रतिवादी तथा गवाहों से न्यायाधीश द्वारा प्रश्न पूछे जाते थे तथा जिरह की जाती थी। कपट अथवा 'छल' का परित्याग कर, सत्य-भाषण कराये जाने पर बल दिया जाता था।[2]

सत्य की खोज में दो दृष्टियाँ अपनाई जाने का कथन किया गया है- प्रथम, वादी-प्रतिवादी के बयानों से क्या तथ्य निकलता है और दूसरी, प्राप्त तथ्यों के परीक्षण तथा विमर्शण से न्यायाधीश स्वतः सत्य के विषय में किस निष्कर्ष पर पहुँचता है।[3] जुए में हारे हुए धन की अदायगी नहीं करना, स्त्री-हत्या, राजनीतिक अपराध, राजकीय कर्त्तव्यों के पालन में किसी अधिकारी के साथ छेड़खानी करना तथा किसी राजनीतिक शत्रु अथवा अपराधी की रक्षा या सहायता करना-इन अपराधों का उल्लेख मिलता है और शारीरिक यंत्रणा से लेकर मृत्यु-दण्ड तक के दण्डों का प्रचलन पाया जाता है। अपराधी कुछ

---

1 वही, अङ्क 9/ 3, 4, 5

2 व्यवहारः सविघ्नोऽयं त्यज लज्जां हृदि स्थिताम्।
ब्रूहि सत्यमलं धैर्यं छलमत्र न गृह्यते।" - वही, अङ्क 9/18

3 वही, अङ्क 9, पृ. 577

निश्चित अवसरों पर मुक्त भी कर दिए जाते थे। चांडाल के कथनानुसार, कभी कोई साधु पुरुष धन देकर वध्य पुरुष को छुड़ा लेता था; कभी राजा के पुत्र-जन्म के उपलक्ष में अपराधी छोड़ दिए जाते थे; कभी राज्य परिवर्तन होने पर बध्य पुरुष मुक्त कर दिए जाते थे और कभी बंधन तोड़कर मतवाले हाथी के निकल भागने पर वध्य पुरुष मुक्त हो जाता था।[1]

मृत्यु-दण्ड प्राप्त अपराधी को शरीर पर चाण्डालों द्वारा आरा चलाकर मार डालने की पद्धति थी। चारुदत्त को इसी प्रकार का मृत्यु-दण्ड मिला था। किन्तु, इसके विकल्प रूप में प्राण-दण्ड के लिए विष-खिलाने, पानी में डुबो देने, यंत्र पर चढ़ा देने तथा अग्नि में झोंक देने की प्रथाएं प्रचलित थीं।[2]

2. दशकुमारचरितम् में वर्णित राजनीतिक स्थिति

दशकुमारचरितम् में वर्णित राजा की सत्ता देवताओं की तरह विद्यमान थी। जनता में यह धारणा बैठ गई थी कि राजा का अपमान एवं अवज्ञा भगवान् की अवज्ञा है तथा उसकी आज्ञा न मानने वालों को दैवी आपत्तियों का सामना करना पड़ेगा।[3] राजा को समाज में उच्चतम स्थान दिया जाता था। दण्डी ने राजा को इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि तथा वायु के तथ्यों के समूह के रूप में वर्णित किया है।[4]

दशकुमारचरितम् एक आदर्श राजा के विचार का सुन्दर एवं यथेष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। मगध के राजहंस, कांची के सिंहविष्णु, विदर्भ के पुण्यवर्मा तथा विश्रुत आदि नरेश आदर्श राजा के उत्तम उदाहरण हो सकते

---

1 वही, अङ्क 10, पृ. 692

2 वही, अङ्क 9/43

3 "सत्यमिदं राजावमानिनं दैवो दण्ड एवं स्पृशतीति।" - झा, विश्वनाथ, दश. उच्छ. 4, पृ. 129-30

4 गुप्ता, डी. के.; सोसाइटी एण्ड कल्चर इन दि टाइम ऑफ दण्डिन, पृ. 113

हैं। दशकुमारचरितम् के अनुसार राजा अपने दिन-रात को मिलाकर आठ भागों में विभक्त करके अलग-अलग भागों में पूर्व निर्दिष्ट कार्य सम्पन्न करता है। राजा को भ्रष्ट करने के उपायों का सुन्दर निदर्शन विहारभद्र के कथन में निरुपित है।[1] मनु द्वारा बताए गए चातुवर्ण्य की व्यवस्था को स्थपित करना राजा का कर्त्तव्य था।[2]

दशकुमारचरितम् के शासन -व्यवस्था में राजतंत्र ही सरकार का साधारण स्वरूप था, जिसका कौटिल्य के बाद दण्डी ने उल्लेख किया है। राजा या शासक के पास असीमित शासकीय सत्ता थी, कोई संवैधानिक रोक-टोक नहीं थी। केवल कुछ अप्रत्यक्ष बंधन विद्यमान थे। राजपरिवार का केन्द्रबिन्दु राजा था, परिवार में उसका ही प्रभुत्व रहता था। समस्त पारिवारिक सदस्य यथा राजमहिषियां, राजपुत्र, राजकन्याएं आदि उसका अत्यन्त सम्मान करते थे।

राजतंत्र वंशानुगत तथा पैतृक था। वंश विशेष के लोगों के हाथों में ही सत्ता का हस्तान्तरण होता था। पिता की मृत्यु के बाद पुत्र, उसके पुत्र का पुत्र स्वयमेव ही शासन का अधिपति बन जाता था। सामान्यतया राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही उनका स्थान लेता था।

दशकुमारचरितम् के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शासक राज्य शासन के अन्य दावेदारों को सामने अथवा छल से खत्म करने का प्रयास करते थे। शासन वंशानुगत होने पर भी राजा का ज्येष्ठ पुत्र अनिवार्य रूप से शासक नहीं बन पाता था। शासन की बागडोर उसी के हाथ में आ जाती थी, जो शक्तिशाली होता था। विकटवर्मा अपने राज्य के रहस्य को

---

1 दश., उच्छ 8, पृ. 243, 44, 45, 46, 47

2 "मनुमार्गेण प्रणेता चातुर्वर्ण्यस्य।" वही, उच्छ. 8, पृ. 239

प्रकट करता हुआ कहता है कि "मेरे पिता के छोटे भाई प्रहारवर्मा जेल में बन्द हैं, उन्हें जहर खिलाकर मार दूँगा और प्रसिद्ध करा दूँगा कि अजीर्ण से मर गए हैं।[1] अतः कहा जा सकता है कि बड़े भाई की अनुपस्थिति में छोटा भाई शासन में पदारूढ़ होता था तथा कभी-कभी भतीजे शक्ति के बल पर शासन पर कब्जा कर लेते थे।

दण्डी ने शासक के लिए दण्डनीति के ज्ञान की अनिवार्यता प्रतिपादित की है। इस बात के स्पष्ट उल्लेख है कि जो शासक दण्डनीति नहीं जानते, सर्वगुणसम्पन्न होने पर भी प्रजा उनका भय एवं शक्ति नहीं मानती।[2]

राज्य के सुप्रबन्ध के लिए राजा के अधीनस्थ सेवकों का एक विशाल वर्ग होता था, जिसमें स्त्री-पुरुष, दोनों प्रकार के व्यकित समाविष्ट थे। सेवकों के पृथक्-पृथक् कार्य निर्धारित थे। इसमें अमात्य अथवा मन्त्रियों की शासन में महत्त्वपूर्ण भागीदारी थी। नीति-निर्धारण तथा राज्य प्रशासन के ऊपर अपने परिषद् के साथ अमात्य काफी महत्त्वपूर्ण नियन्त्रण रखता था। मंत्री सम्भवतः कुल परम्परा के होते थे। राजा राजहंस के भी कुल परम्परा से आए सितवर्मा, धर्मपाल एवं पद्मोद्भव तीन मन्त्री थे। जो बृहस्पति से भी ज्यादा ज्ञानी थे।[3] यहाँ दण्डी द्वारा अमात्य के बुद्धिमान होने की अनिवार्यता प्रमाणित हो जाती है।

---

[1] "अस्ति बद्धो मत्पितुः कनीयान्भ्राता प्रहारवर्मा। तं विषान्नेव व्यापाद्याजीर्णदोषं स्यापेययमिति।" - वही, उच्छ. 3, पृ. 106

[2] स सर्वगुणैः समृद्धोऽपि दैवाद्दण्डनीत्यां नात्यादृतोऽभूत्। -वही, उच्छ. 8, पृ. 240

[3] वही, पूर्वपीठिका, उच्छ. 1, पृ. 8

दण्डी ने मन्त्रिपरिषद के लिए तीन अथवा चार मन्त्रियों का उल्लेख किया है। दण्डी ने मन्त्रिपरिषद अथवा मन्त्रिमण्डल का उल्लेख किया है, जिसकी अध्यक्षता प्रधान अमात्य करते थे। राजा इन सब के ऊपर अन्तिम निर्णय लेता था। राजा शासन कार्य सम्बन्धी और युद्ध-विग्रह विषयक विषयों पर मन्त्रिपरिषद से परामर्श करता था। वैसे मन्त्री की सलाह के अनुसार राजा निर्णय के लिए बाध्य नहीं थे। फिर भी उनका परामर्श काफी महत्त्वपूर्ण होता थ। राजहंस अपनी मन्त्रिपरिषद की राय के विरुद्ध मानसार से लड़ने को तैयार हो जाता है।[1]

दूसरे प्रमुख वर्ग धर्मसहाय में राजा के वे सहायक समाविष्ट होते हैं जो यज्ञ, देवार्चन, विवाह आदि धार्मिक संस्कारों में राजा की सहायता करते थे और उसे धर्म का यथार्थ तत्त्व समझाते थे। राजा के राजदरबार में पुरोहित का स्थान महत्त्वपूर्ण था। दशकुमारचरितम् के अनुसार सामन्तों तथा मन्त्रियों के साथ पुरोहित भी सभा में अनिवार्य रूप से उपस्थित होते थे।[2] धार्मिक विषयों में पुरोहित की इच्छा सर्वोपरि थी।

दशकुमारचरितम् के राजनीतिक-व्यवस्था में गुप्तचरों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। राजा शासन की जानकारी के लिए गुप्तचरों का जाल बिछाए रखते थे। विश्रुत कहता है कि "अनेक वेशधारी गुप्तचर बनाकर, प्रजा के भीतर छिपे लोभी, अभिमानी, उदण्ड लोगों में उनके द्वारा औदार्य और धार्मिक भावना फैलाकर मैंने नास्तिकों को नीचा दिखाया।"[3] अपने राज्य के भीतर एवं शत्रु के राज्य में गतिविधियों की जानकारी के लिए गुप्तदूत रखे जाते थे। प्रतिक्रियावादी तत्वों का मुकाबला करने के लिए गुप्तचरों की विशेष

---

[1] वही, पूर्वपीठिका, उच्छ. 1, पृ. 16

[2] वही, पृ. 12

[3] वही, उच्छ. 8, पृ. 283-84

रूप से मदद ली जाती थी। राजा राजहंस की सभा में एक गुप्तचर घुमक्कड़ स्वामी के अशंकनीय वेश में उपस्थित होता है तथ मालवराज के नगर की प्रमुख खबरें बताता है।[1] दशकुमारचरितम् से विदित होता है कि गुप्तचर की बातों में शङ्का नहीं की जाती थी, पूरा-पूरा विश्वास कर लिया जाता था।

दशकुमारचरितम् के अनुशीलन से स्पष्ट होता हो जाता है कि उस समय भारत देश छोटे-छोटे प्रदेशों में विभाजित था। इन प्रदेशों के राजा शासन के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्र तथा स्वेच्छाचारी थे। इसी से देश की राजनीतिक दशा डांवाडोल थी। अनेक राजा थे और वे भी ज्यादातर शक्तिहीन थे। सम्भवतः इस समय देश में कोई सार्वभौम सम्राट नहीं था। छोटी-छोटी बातों पर आपस में झगड़ा होता रहता था। कुछ राज्यों में, जहाँ गुणवान तथा दयालु शासक थे, शासन-प्रबन्ध अच्छा था। दशकुमारचरितम् के अनुसार मगध एवं मिथिला राज्य, जहाँ क्रमशः राजहंस एवं प्रहारवर्मा शासनारूढ़ थे, का शासन प्रबन्ध सुखद था। जब कि लाटदेश, मालव, विदेहपुरी तथा विदर्भ देश में जनता सुखी नहीं थी तथा अराजकता का वातावरण व्याप्त था। शासन-प्रबन्ध की शिथिलता का बुरा परिणाम यह था कि राज्य में विद्रोहियों की संख्या वृद्धि पर थी और षडयन्त्रकारियों को अपनी कुत्सित योजनाएं पूरी करने का अवसर मिलता रहता था। षडयन्त्र का सन्देह होने पर किसी भी पुरुष को जेल में डाल दिया जाता था। राजतन्त्र प्रणाली विकसित होने से शासन वंशानुगत माना जाता था। परन्तु व्यवहार में उत्तराधिकार के सम्बन्ध में ऐसी कोई निश्चित बात नहीं थी, इसीलिए हमेशा अस्थिरता का वातावरण व्याप्त रहता था। शक्ति और सत्ता प्राप्त कर कोई भी व्यक्ति राज्य प्राप्त कर लेता था। उस समय प्रायः वंश का शक्तिशाली व्यक्ति ही राज्य शासन का अधिकार प्राप्त करता था।

---

[1] वही, पूर्वपीठिका, उच्छ. 1, पृ. 14-15

दशकुमारचरितकालीन समाज में नागरिकों की समस्या और विवादों को सुलझाने के लिए तथा दुर्विनीतों को दण्ड देने के लिए राजकीय न्यायालय होते थे। राज्य के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण नगर में न्यायाधीश नियुक्त किये जाते थे।[1] जो राज्य के दण्ड नियमों के अन्तर्गत अपने विवेक के अनुसार विषयों का निर्णय करते थे।

किसी व्यक्ति को गिरफ्तार किए जाने की प्रक्रिया ठीक वही थी, जो आज के हमारे आधुनिक समाज में अपनायी जाती है। किसी भी व्यक्ति को निम्न हेतुओं में से किसी की भी उपस्थिति में पुलिस द्वारा गिरफ्तार किया जा सकता था-सन्देह के आधार पर, किसी अपराध में रंगे हाथ पकड़े जाने पर, चोरी का माल रखने पर तथा अपराध होने की परिस्थिति में विचार पर।[2] यदि कोई व्यक्ति जिस पर अपराध का अभियोग है अथवा जिसने अपराध किया है तथा जो लगातार अभियोग को नकारता चला जाता है, ऐसे व्यक्तियों को कष्ट देने का प्रावधान था, जिससे अपराध स्वीकरण सुनिश्चित किया जा सके।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि भेद उगलवाने के लिए जेल में अनेक प्रकार की यातनाएं दी जाती थीं। दण्डी ने जेलों में 18 तरह की यातनाएं दिए जाने का उल्लेख किया है। कारागाराध्यक्ष कान्तक, अपहारवर्मा से कहता है कि "धनमित्र की भाथी न दोगे, नगरवासियों का चोरी किया धन न लौटाओगे तो कारागार में मिलने वाली 18 तरह की यातनाएं भोगते हुए मौत के मुँह में चले जाओगे।"[4]

---

[1] गुप्ता, डी. के., सोसाइटी एण्ड कल्चर इन दि टाइम ऑफ दण्डिन्, पृ. 137

[2] वही, पृ. 139

[3] झा, विश्वनाथ, दश0, उच्छ. 2, पृ. 60

[4] द्रक्ष्यसि पारमष्टादशानां कारणानामन्ते च मृत्युमुखम्। - वही, उच्छ. 2 पृ. 60

दण्डी के दशकुमारचरितम् से ऐसा ज्ञात होता है कि उन्होंने कानून, न्याय अथवा दण्ड-विधान के निर्धारण में कौटिल्य की अपेक्षा मनु का ही अनुसरण किया है।[1] दण्ड का स्वरूप काफी कष्टकर होता था, जिनका मुख्य तात्पर्य था कि वह समाज अथवा जनता के लिए अनुकरणीय बने तथा अन्य लोग उससे भयभीत होकर उस तरह अपराध पुनः न करें। न्याय-व्यवस्था में अलग-अलग वर्गों के लिए एक ही अपराध के लिए अलग-अलग दण्ड का प्रावधान था। राजा ब्राह्मणों को प्राणदण्ड देने से परहेज करते थे। दशकुमारचरितम् के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण पूरी तरह अवध्य नहीं थे। इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्म-हत्या पातक थी लेकिन इस संदर्भ में मनु-मार्ग का कड़ाई से पालन नहीं हो पाता था। अर्थपाल की कथा में चाण्डाल कहता है कि "राजाज्ञानुसार इस राज्याभिलाषी ब्राह्मण को घोर अन्धकार में डालकर मार डालना ही उचित है। न्यायाधीश की आज्ञा से इसीलिए इसकी आँखें निकाल ली जाएंगी। भविष्य में यदि कोई ऐसा अपराध करेगा तो वह भी इसी तरह राजदण्ड पाएगा।[2]

अपराधी को कष्टकर मृत्युदण्ड दिया जाता था। कष्टकर मृत्युदण्ड को दण्डी ने "चित्रवध"[3] कहकर सम्बोधित किया है। मृत्युदण्ड के लिए भिन्न-भिन्न साधन अपनाए जाते थे- शूली पर चढ़ाना, हाथी से कुचलवा देना, अपराधी की दोनों आँखें निकालकर मार डालना आदि। पूर्णभद्र को एक

---

1 गुप्ता, डी. के., सोसाइटी एण्ड कल्चर इन दि टाइम ऑफ दण्डिन्, पृ.138

2 दश., उच्छ. 4, पृ. 129

3 वही, उच्छ. 2, पृ. 67

धनिक वेश्या के यहाँ चोरी के अभियोग में प्राणदण्ड का आदेश दिया जाता है तथा उस पर मृत्युविजय नामक मतवाला हाथी छोड़ दिया जाता है।[1]

सामान्यतया किसी उपराधी के अपराध एवं दण्ड की घोषणा सामान्य जनता के बीच ढोल बजा-बजा कर की जाती थी, थकि जनता राजदण्ड को जान सके तथा दण्ड के भय से ऐसे अपराध न करे । अपराधी का दोनों हाथ पीछे बाँधकर वधस्थल पर राजपुरुषों द्वारा लाया जाता है।[2] ब्राह्मण पूर्णभद्र के राजद्रोह एवं राजा की हत्या का अभियोग और उसके दण्ड की घोषगा जनता के बीच करके लेखक ने अपराधी को खुले रूप में दण्ड देने की व्यवस्था का आभास दिया है। दण्ड देने का कार्य चाण्डाल करते थे, इस तथ्य की पुष्टि भी दशकुमारचरितम् से हो जाती है। गुप्तरूप से दण्ड देने का भी प्रावधान यद्यपि मनु के अनुसार थी फिर भी राजा सर्वाधिकार सुरक्षित रखते हुए उसे कठोर बनाये हुए थे।

3. विमर्श

समानता- दोनों ग्रन्थों में वर्णित राजनीतिक दशा अत्यधिक समान है। दोनों ग्रन्थों में वर्णित है कि देश में छोटे-छोटे राज्य थे, जो साधारणतः आत्मनिर्भर थे। शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत राजतंत्र का ही प्रचलन था। इन छोटे-छोटे राज्यों में परस्पर द्वेष एवं स्पर्धा बनी रहती थी। वे एक दूसरे को सदैव हड़पने का प्रयास करते रहते थे। राज्यों में भ्रष्टाचार व्याप्त था। ऐसी स्थिति में षडयन्त्र होते रहते थे तथा क्रान्ति एवं विप्लव की योजना सफल होना आसान काम था। किसी भी व्यक्ति पर संदेह होने पर जेल में डाल दिया जाता था।

---

1 वध्ये च मयि मत्तहस्ती मृत्युविजयो नाम हिंसाविहारी......। - वही, उच्छ.4, पृ. 114

2 वही, उच्छ. 4, पृ. 128

दोनों ग्रन्थों से स्पष्ट होता है कि देश में किसी सार्वभैम सम्राट का अभाव था। राज्यारोहण के समय राजा का राज्याभिषेक होता था।[1] राजा की शक्तियाँ अनियन्त्रित होती थीं तथा वही सर्वोच्च सत्ता का अधिकारी होता था। वही कानून या विधि का सर्वप्रमुख स्रोत तथा न्याय-विभाग का मुखिया था। नगर की रक्षा करने के लिए सेना होती थी।

मृच्छकटिकम् में वर्णित है कि शासन-प्रणाली में गुप्तचरों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहता था। राजा गुप्तचरों के माध्यम से सभी षडयन्त्रों का पता लगाकर राज्य की अथवा अपनी सत्ता की सुरक्षा करता था।[2] यही बात दशकुमारचरितम् के अध्ययन से ज्ञात होती है। अपने राज्य के भीतर एवं शत्रु के राज्य में गतिविधियों की जानकारी के लिए गुप्तचर रखे जाते थे। प्रतिक्रियावादी तत्वों का मुकाबला करने के लिए भी गुप्तचरों की मदद ली जाती थी।[3]

दोनों ग्रन्थों से स्पष्ट होता है कि उस समय दण्ड-व्यवस्था मनु के अनुसार थी, तथपि राजा सर्वाधिकार सुरक्षित रखते हुए उसे और कठोर बनाए हुए था। मृच्छकटिकम् में अधिकरणिक द्वारा चारुदत्त की मुक्ति के सम्बन्ध में मनु के उद्धरण की उपेक्षा करके उसे प्राणदण्ड का आदेश दे दिया था।[4] दोनों ग्रन्थों से न्याय-पद्धति का पूरा चित्र उपस्थित होता है। राजकीय न्यायालय होते थे, जिसमें न्यायाधीश एवं अन्य कर्मचारी होते थे, जो न्याय-निर्णय का कार्य करते थे। हत्या, चोरी, अपराध आदि स्थिति में गिरफ्तार किया जाता था तथा कठोर दण्ड दिया जाता था। दण्ड का स्वरूप

---

1 मृच्छ. अङ्क 10/47

2 मृच्छ., अङ्क 9, पृ. 634

3 दश., पूर्वपीठिका 1, पृ. 14-15

4 मृच्छ., अङ्क 9, पृ. 634

काफी कष्टकर होता था। अपराधी के अपराध एवं दण्ड की घोषणा सामान्य जनता के बीच ढोल बजाकर की जाती थी। दोनों ग्रन्थों में वर्णित है कि ब्राह्मण पूरी तरह अवध्य नहीं थे, यद्यपि यह पाप समझा जाता था। मृच्छकटिकम् में चारुदत्त को ब्राह्मण होने पर भी मृत्युदण्ड दिया जाता है। दशकुमारचरितम् में भी अर्थपाल की कथा में ब्राह्मण को मृत्यु दण्ड दिए जाने का उल्लेख है।[1] खुले रूप में अपराध की घोषणा एवं दण्ड दिए जाने का प्रावधान था। मृच्छकटिकम् में चारुदत्त के अपराध की घोषणा एवं खुले रूप में दण्ड दिए जाने का उल्लेख मिलता है। दशकुमारचरितम् में ब्राह्मण पूर्णभद्र के राजद्रोह एवं राजा की हत्या का अभियोग एवं दण्ड की घोषणा खुले रूप में होती है। दोनों ग्रन्थों में वर्णित है कि दण्ड के रूप में शारिरिक यातना से मृत्यु दण्ड तक का प्रचलन था। प्राणदण्ड विष, पानी, शूली पर चढ़ाना आदि रूप में दिया जाता था।

विषमता- दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से इनमें वर्णित राजनीतिक व्यवस्था में कुछ विषमताएं भी दृष्टिगोचर होती हैं। दशकुमारचरितम् में राजा की दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। जनता में यह भय व्याप्त था कि राजा का अपमान एवं अवज्ञा भगवान् की अवज्ञा है तथा उसकी आज्ञा न मानने वालों को दैवी आपत्तियों का सामना करना पड़ेगा।[2] राजा को इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि तथा वायु के तथ्यों के समूह के रूप में वर्णित किया गया है।[3] मृच्छकटिकम् में राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त स्वीकार किए जाने का उल्लेख नहीं मिलता है।

---

1. दश., उच्छ. 4, पृ. 129
2. वही, उच्छ. 4, पृ. 129-30
3. गुप्ता, डी.के., सोसाइटी एण्ड कल्चर इन दि टाइम ऑफ दण्डिन, पृ. 113

दशकुमारचरितम् से ज्ञात होता है कि राजतंत्र वंशानुगत एवं पैतृक था तथा सामान्यतः राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही स्थान लेता था। मृच्छकटिकम् में राजतंत्र होने का तो उल्लेख मिला है, किन्तु यह वंशानुगत था या नहीं, इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। शक्ति के आधार पर राजसत्ता प्राप्त की जा सकती है। आर्यक शक्ति के आधार पर ही राजसत्ता प्राप्त करता है। दशकुमारचरितम् से स्पष्ट होता है कि राजा का यह कर्त्तव्य था कि वह मनु द्वारा बताए गए चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था को स्थपित करे।[1] मृच्छकटिकम् में राजा के इस तरह के किसी भी कर्त्तव्य का उल्लेख नहीं मिलता है।

दशकुमारचरितम् में मगध के राजहंस, कांची के सिंहविष्णु, विदर्भ के पुण्यवर्मा तथा विश्रुत आदि राजाओं को आदर्श राजा के रूप में चित्रित किया गया है, किन्तु मृच्छकटिकम् में किसी भी राजा का आदर्श रूप में चित्रण नहीं मिलता है। दशकुमारचरितम् में वर्णन मिलता है कि राजा की सहायता के लिए एक मंत्रिपरिषद् होती थी, जिसमें तीन या चार मंत्री होते थे। ये मंत्री अत्यन्त बुद्धिमान होते थे तथा बुद्धिमत्ता में ये बृहस्पति से भी अधिक थे। इसके विपरीत मृच्छकटिकम् में राजा के सहायक के रूप में शकार जैसे लोगों का उल्लेख मिलता है, जो अत्यन्त मूर्ख एवं अत्याचारी थे। दशकुमारचरितम् में वर्णित है कि राजदरबार में पुरोहित का स्थान महत्त्वपूर्ण था। मृच्छकटिकम् में इस प्रकार का वर्णन नहीं मिलता है।

निष्कर्ष- मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् की रचना क्रमशः गुप्तोत्तर काल एवं हर्षोत्तर काल में हुई थी। यह एक तथ्य है कि गुप्तोत्तर काल के बाद एवं पूर्वमध्यकाल तक उत्तरी भारत की राजनीतिक दशा लगभग समान थी। इन राज्यों पर दुर्बल राजा राज्य करते थे। किसी सार्वभौम राजा का अभाव होने के कारण ये राज्य किसी एक केन्द्रीय नियन्त्रण में नही थे।

---

[1] दश. उच्छ. -8, पृ. 239

इससे राज्यों के मध्य द्वेष का होना स्वाभाविक था। इसके परिणामस्वरूप भारत में राजनीतिक एकता में कमी आई, जिससे वाह्य आक्रमण होने लगे। ऐसे में ऐसा कोई शक्तिशाली शासक उत्पन्न नहीं हुआ, जो इस विषम स्थिति को सँभाल पाता। कुछ समय तक सम्राट हर्षवर्द्धन ने उत्तरी भारत में राजनीतिक एकता स्थपित करने का सफल प्रयास किया, किन्तु उसकी मृत्यु के बाद भारत की स्थिति पुनः पूर्ववत् हो गई एवं अराजकता व्याप्त हो गई। जिस समय इन दोनों ग्रन्थों की रचना हुई, उस समय भारत की स्थिति ऐसी ही थी। ऐसी ही राजनीतिक दशा का वर्णन इन दोनों ग्रन्थों में हुआ है। दोनो ग्रन्थों में वर्णित राजनीतिक दशा भी लगभग समान है

दोनों ग्रन्थों में शासन-व्यवस्था के रूप में राजतंत्र के प्रचलन का उल्लेख मिलता है। 400 ई0 के पूर्व तक हिमालय के तराई क्षेत्रों में कुछ गणतन्त्र भी विद्यमान थे।[1] किन्तु इसके बाद ये गणतन्त्र लगभग समाप्त हो गए एवं उनका स्थान राजतंत्र ने ले लिया। दोनों ग्रन्थों के रचना-काल में भी भारत में राजतंत्र का ही प्रचलन था।

दशकुमारचरितम् में राजा की दैवी-उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रचलन होना वर्णित है, किन्तु मृच्छकटिकम् में ऐसा उल्लेख नही मिलता है। यह स्पष्ट है कि अत्यन्त प्राचीन काल में ही भारत में राजा की दैवी-उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रचलन हो चुका था। ऐतरेय ब्राह्मण में इसका उल्लेख मिलता है, जिसकी रचना संभवतः ई0 पू0 8वीं अथवा 7वीं शताब्दी में हुई थी।[2] बौद्धकाल से पूर्व राजा जनसाधारण से महान् राजयज्ञों की ऐन्द्रजालिक शक्ति द्वारा कहीं उच्च समझा जाता था। राजसूय याज्ञ जिसमें यज्ञों के क्रम रहते थे और जिसके पूर्ण होने में एक वर्ष से अधिक का समय लगता था, राजा को

---

1 महाजन, वी.डी.; प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 523

2 बाशम, ए. एल.; अद्भुत भारत, पृ. 55

दैवी शक्ति से सम्पन्न कर देते थे। उत्सवों की अवधि में वह इन्द्र और महान देवता प्रजापति के तुल्य समझा जाता था, "क्योंकि वह एक क्षत्रिय है और क्योंकि वह एक यज्ञकर्ता है।"[1] मृच्छकटिकम् का रचना-काल भारत में उत्तरगुप्तवंशी राजाओं का काल था। यह काल राजाओं के देवत्य के सिद्धान्त के लिए अत्यन्त लोकप्रिय था। इन राजाओं की उपाधियाँ 'परमदेवता', 'परमेश्वर' आदि थीं।[2] अतः स्पष्ट है कि मृच्छकटिकम् के रचना-काल में भी राजा के दैवी-उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रचलन में था।

उस समय राजा सामान्यतः अपने उत्तराधिकारी मनोनीत करते थे। सामान्यतः ज्येष्ठ पुत्र ही युवराज के पद पर नियुक्त होता था तथा राजा के बाद वही राजा होता था। राजा की सहायता के लिए मन्त्रिपरिषद् या मन्त्रिमण्डल का उल्लेख अनेक तत्कालीन ग्रन्थों में मिलता है। कालिदास ने भी मन्त्रिपरिषद् का उल्लेख किया है। ऋग्वेद से भी हमें इस बात की सूचना मिलती है कि राजा की सहायता के लिए तथा महत्त्वपूर्ण मामलों पर विचार-विर्मश के लिए सभा[3] एवं समिति[4] नामक संस्थाएं होती थीं। ये मंत्रिपरिषद् या मंत्रिमण्डल उसी सभा एवं समिति का विकसित रूप हैं। मन्त्रियों की संख्या कार्य के अनुसार घटती-बढ़ती रहती थी। दशकुमारचरितम् में वर्णित है कि राजदरबार में पुरोहित का स्थान महत्त्वपूर्ण होता था। डॉ0 कीथ का मत है कि "पुरोहित ब्राह्मण राजनीतिज्ञों का अग्रगामी था। .... वैदिक आर्यों के समय विश्वामित्र तथा वशिष्ठ जैसे मुनि शासन विधान की महत्त्वपूर्ण शक्ति

---

1 बाशम, ए. एल.; अद्‌भुत भारत, पृ. 56

2 महाजन, वी.डी.; प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 524

3 ऋग्वेद 9.92.6

4 वही, 10.166.4

थे।" मौर्यकाल में चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानमंत्री एवं पुरोहित चाणक्य थे।[1] इसी प्रकार अन्य कालों में भी राजा के पुरोहित का स्थान महत्त्वपूर्ण था। अतः निश्चित रूप से इन दोनों ग्रन्थों के रचना-काल में भी पुरोहित का स्थान महत्त्वपूर्ण था।

दशकुमारचरितम् में राजा के कर्त्तव्य गिनाए गए हैं। राजनीतिक सिद्धान्तों के अन्तर्गत सिद्धान्तवादियों के सुप्रचलित वर्गीकरण के अनुसार प्रभुसत्ता के सात प्रधान तत्त्व गिनाए गए हैं, जिनकी तुलना कभी-कभी मानव-शरीर के अंगों तथा भागों से की गई है- राजा की शिरोभाग से, मन्त्रियों की चक्षुओं से, मित्रराज्य का कर्ण से, कोष की सुख से, सेना की मस्तिष्क से, दुर्गीकरण की भुजाओं से तथा भूमि एवं जनता की टाँगों से। राजा का कर्त्तव्य समाज की सुरक्षा था तथा राज्य केवल उसके उस लक्ष्य को अग्रसर करने का विस्तार था।[2] निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि दोनों ग्रन्थों के रचना-काल में एवं दोनों ग्रन्थों में वर्णित राजनीतिक दशा में पर्याप्त समानता थी।

(ख) 1. मृच्छकटिकम् में वर्णित आर्थिक स्थिति

मृच्छकटिकम् के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि उस समय देश समृद्धशाली था, यद्यपि निर्धनता तथा दुर्भिक्ष का भी उल्लेख मिलता है। जनजीवन का स्तर आर्थिक दृष्टि से उच्च होना स्वाभविक था। कृषि भारत का बड़ा पुराना उद्योग है। मृच्छकटिक-काल में भी सम्भवतः कृषि का महत्त्व था। किन्तु इससे यहाँ के कृषकों का जीवन सुखमय प्रायः नहीं रहा है। जौ तथा धान

---

1 झा एवं श्रीमाली; प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 178

2 बाशम, ए. एल.; अद्भुत भारत, पृ. 61

की लहलहाती फसलों का उल्लेख नाटक में हुआ है।[1] ऊसर भूमि में बीजों के व्यर्थ चले जाने तथा वर्षा के अभाव में सूखते हुए धान के मेघ के आगम से लहलहा उठने[2] की उपमाओं से पता चलता है कि कृषकों का जीवन चिन्ता से मुक्त नहीं था।

यहाँ का वाणिज्य-व्यवसाय उन्नत अवथा में था। वणिक अथवा वैश्य लोग विदेशों से व्यापार करते थे। माल ढोने के लिए जहाजों का प्रयोग होता था। लेकिन, मैत्रेय के एक कथन के अनुसार व्यापारी लोगों पर जनसाधारण का विश्वास नहीं था। सुवर्णकार और कायस्थ शायद अभी तक पृथक् जातियाँ नहीं बन पाए थे, तो भी ऐसा सामान्य विश्वास प्रकट किया गया है कि सुवर्णकार चोर होते हैं और कायस्थ न्यायालय के सर्प होते हैं।[3]

अत्यधिक समृद्धि के कारण धनिकों का बहुत-सा धन मनोरंजन के रूप में वेश्याओं की भेंट होता था, जिसके परिणामस्वरूप वेश्याओं की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी थी। वे सम्पत्ति में कुबेर के तुल्य थीं और उनके पास हाथी भी होते थे वसंतसेना के पास खुण्टमोडक नाम का हाथी था।[4]

समृद्धि के इस चित्र के अनुरूप, विभिन्न क्षेत्रों में जीवन की व्यस्तताओं का पता चलता है । दूकानें सामनों से सजी रहती थीं। विक्रेय वस्तुओं का आयात-निर्यात होता रहता था। वणिक अपनी नवपरिणीता पत्नियों को निराश छोड़कर विदेशों में सम्पत्ति-संचय के लिए चले जाते थे। नवयुवक नये देश देखने के लिए, धन कमाने के लिए अथवा प्रशासकीय सेवा में कोई पद प्राप्त करने के लिए अपना घर छोड़कर बाहर चले जाते

---

1 मृच्छकटिकम्, अङ्क-4/17

2 वही, अङ्क 10/26

3 वही, अङ्क 5, पृ. 321

4 वही, अङ्क 2, पृ. 169

थे। उज्जयिनी की समृद्धि की बड़ी ख्याति प्रतीत होती है। एशिया के भिन्न-भिन्न खण्डों से अनेक जातियाँ वहाँ आकर जीविकोपार्जन करती थीं।

चारुदत्त ने पुष्पकरण्डक उद्यान में उगने वाले वृक्षों को व्यापारी तथा उनमें शोभित फूलों को विक्रेय द्रव्य से उपमित किया है, जिससे वाणिज्य की समृद्ध अवस्था का द्योतन होता है।[1] उज्जयिनी के एक मुहल्ले का नाम - श्रेष्ठिचत्वर' था, जहाँ चारुदत्त जैसे संभ्रान्त व्यवसायी निवास करते थे। उनका कोई अपना संगठन भी होता था, जिसका एक प्रतिनिधि न्यायाधीश की सहायता के लिए न्यायमंडप में बैठता था और न्याय-कार्य के सम्पादन में भाग लेता था। धन-सम्पन्न व्यवसायियों ने नगर की सुख-वृद्धि के लिए सार्वजनिक हित के अनेक प्रशंसनीय कार्य किये थे। संवाहक 'गृहपति' का पुत्र बताया गया है। 'गृहपति' से साधारण अर्थ 'गृहस्थ' का लिया जा सकता है, किन्तु कुछ विद्वानों का अनुमान है कि 'सार्थवाह' के समान गृहपति' भी धनी-मानी लोगों का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण समुदाय था और उन्हें जमींदारों अथवा भूमिपतियों का वर्ग माना जा सकता है। दो कोटि के नौकरों का उल्लेख मिलता है, यथा "संवृत्ति परिचायक" और "गर्भदास" या "गर्भदासी"। पहली कोटि उन दासों की है जो आजन्म अपने स्वामी की सेवा में संलग्न रहते थे, जब तक कि बसन्तसेना जैसा कोई उदारमना व्यक्ति उन्हें निःशुल्क अथवा शुल्क लेकर मुक्ति न प्रदान कर दे। सरकारी नौकरों तथा अधिकारियों, यथा, अधिकरणिक, लिपिक, सेनापति, पुलिस इत्यादि के अतिरिक्त नाई, चमार, राजगीर, बढ़ई, वास्तुकार इत्यादि का उल्लेख हुआ है। सुवर्णकारों की कारीगरी तथा धूर्तता का मैत्रेय ने वैसे ही कथन किया है जैसे बनिया तथा वेश्या के धन-लोभ का।[2] शिल्पी का वर्ग भी विद्यमान था।

---

[1] डॉ. त्रिपाठी, रमाशङ्कर, मृच्छ. अङ्क-7/1

[2] वही, अङ्क 5, पृ. 321

अधिकरणिक ने 'शिल्पिवर्ग' की निपुणता का वर्णन किया है जो आभूषणों की विश्वसनीय नकल निर्मित कर देते हैं।[1]

2. दशकुमारचरितम् में वर्णित आर्थिक स्थिति

दशकुमारचरितम् के रचना-काल में अर्थ अथवा सम्पत्ति का महत्त्व प्रतिपादित था। लेखक द्वारा अनेक स्थलों पर अर्थ की महत्ता प्रतिपादित की गयी है। धर्म, अर्थ और काम तीनों मानव के उद्देश्य अर्थ की प्राप्ति बताया है। उस समय आर्थिक मामलों की उपेक्षा अनुचित मानी जाती थी।[2] दण्डी ने शासक वर्ग के लिए वृत्ति अथवा अर्थशाास्त्र का ज्ञान आवश्यक बताकर स्वयंमेव अर्थ की महत्ता प्रतिपादित कर दी है। पुष्पोद्भव अपने मन में विचार करता है कि "सभी काम धन से सधते हैं।[3] शासक का यह उत्तरदायित्तव था कि वह जनता के लिए अर्थोपार्जन साधन जुटाए। शासन की तरफ से भी अर्थोपार्जन के तरीके सुझाए जाते थे एवं रोजगार उपलब्ध कराए जाते थे। अर्थ के प्रधान स्रोत कृषि, पशुपालन तथा व्यापार था। अपहारवर्मा की कथा में रागमञ्जरी कहती है कि "अर्थ में तो कमाना, धन बढ़ाना और उसकी रक्षा करना है, खेती, पशुपालन, व्यापार, सन्धि और विग्रह, अर्थ के ये परिवार हैं।[4] दण्डी के अनुसार तत्कालीन युग में अर्थ का प्रधान स्रोत थे-कृषि, पशुपालन, व्यापार, सन्धि और विग्रह। दशकुमारचरितम् के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज का मुख्य आर्थिक आधार कृषि था। देश की

---

1 वही, अङ्क-9/34

2 गुप्ता, डी.के.; सोसाइटी एण्ड कल्चर इन द टाइम ऑफ दण्डिन, पृ. 307

3 ततो देवस्यान्वेषणपरायणोऽहमखिलकार्य ...।
झा, विश्वनाथ, दशकुमारचरितम् पूर्व-4, पृ. 85

4 अर्थस्तावदर्जनवर्धन रक्षणात्मकः कृषिपाशुपाल्यवाणिज्य संधिविग्रहादिपरिवारः तीर्थप्रतिपादनफलश्च। वही, उ. 2, पृ. 28

एक बड़ी जनसंख्या कृषि कार्य में संलग्न थी। राज्य को होने वाली आय का अधिकांश भाग कृषि से प्राप्त होता था। अकाल या भूखमरी के समय प्रायः शत्रु पर आक्रमण नहीं किया जाता था।[1] कृषि के लिए वर्षा का अभाव या आधिक्य अहितकर होता है। दोनों ही स्थितियों की अति से अकाल पड़ता है, जिससे देश की आर्थिक व्यवस्था नष्ट होती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तकाल से चली आ रही कृषि व्यवस्था उस सयम भी लागू थी तथा भूस्वामित्व का निजी अधिकार इस समय भी वर्तमान था।[2] जमीन की सिंचाई की तरफ शासकों का ध्यान था, यद्यपि ज्यादातर कृषि भाग वर्षा पर निर्भर करता था। प्राकृतिक साधनों के अलावा कुओं, बड़े टैंकों, बाँधों एवं नहरों द्वारा सिंचाई की जाती थी।[3]

कृषि उत्पादों में धान का उत्पादन ही सबसे मुख्य था। तत्कालीन भारतीय जनता का मुख्य खाद्य चावल था।[4] दशकुमारचरितम् से ज्ञात होता है कि लोगों के बीच फलों के प्रति चाव था तथा उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेशों में यवनों द्वारा फलदार वृक्षों का उत्पादन प्रदर्शित होता है।

तत्कालीन सामाजिक तथा आर्थिक ढाँचे का एक आधार पशुपालन भी था।[5] ग्रामीण जनता खेती के बाद पशुपालन व्यवसाय में संलग्न थी। कृषि के पश्चात् तत्कालीन लोगों के जीविकोपार्जन का प्रमुख साधन व्यापार था। यह भी आर्थिक समृद्धि का प्रधान साधन व्यापार था। एक बड़ा समुदाय

---

1 अतो मुष्टिवधः सस्यवधो वा यदोत्पद्यते तदाभियास्यसि। वही, उ. 3, पृ. 109

2 गुप्ता, डी.के.; सोसाइटी एण्ड कल्चर इन दि टाइम ऑफ दण्डिन, पृ. 302

3 वही, पृ. 304

4 दश., उ. 6, पृ. 194

5 वही, उ. 2, पृ. 26, 27, 28

अनुभवी तथा कुशल व्यापारी था। व्यापारी, वणिक,[1] श्रेष्ठी[2] आदि नामों से सम्बोधित किए जाते थे। क्षेत्रीय व देशीय व्यापार के साथ-साथ वैदेशिक व्यापार भी प्रचलित था।

दशकुमारचरितम् के अनुशीलन से व्यापार एवं उद्योग के उत्कर्ष का आभास होता है। यहाँ का व्यापार इस समय आर्थिक दृष्टि से समुन्नत था। जहाजों से समुद्र पार तक व्यापार किया जाता था, जिसके फलस्वरूप धनिक वर्ग सुवर्णराशि से भरपूर था। इस समय स्थल और जल व्यापार जोरों से चल रहा था। भारत का अन्य देशों के साथ जल मार्ग से व्यापारिक सम्बन्ध था। वणिक् समुदाय व्यापार के सिलसिले में एक जगह से दूसरी जगह घूमा करते थे। उस समूह में एक मुख्य वणिक् होता था, जिसे "सार्थवाह" कहा जाता था।[3] स्थल मार्ग से व्यापार का साधन बैलगाड़ियाँ हुआ करती थीं।[4] जलमार्ग के व्यापार के लिए नौकाओं का प्रयोग किया जाता था। देश में निर्मित सामान विदेशों में नावों द्वारा ले जाए जाते थे और उसके बदले में विदेशी सामग्री अपने देश में ले आते थे।[5] कुछ ऐसे व्यापारी थे, जिन्हें कई जहाजों का स्वाामित्व प्राप्त था। निम्बवती की कथा में रत्नवती नामक युवती के गृहगुप्त नामक धनी पिता के पास कई जहाजें थीं, जो वणिकों में अत्यन्त समृद्ध था।[6]

---

1 दश., पूर्व. 4, पृ. 80

2 वही, उ. 2, पृ. 32

3 वही, पूर्व -4, पृ. 80

4 तत्र धनिनो बलीवर्दान् गोणीश्च ...। वही, पूर्व. 4, पृ. 86

5 वही, पृ. 80-81

6 तस्यां गृहगुप्तनाम्नो गुह्यकेन्द्रतुल्यविभवस्य नाविकपतेर्दुहिता रत्नवती नाम। वही, उ. 6, पृ. 196

तत्कालीन युग में व्यापारी एवं उच्च वर्ग के लोगों के वैभवपूर्ण जीवन की झलक मिल जाती है। व्यापार एवं उद्योग के विकसित होने के प्रमाण मिल जाते हैं। राजाओं और सामंतों के महलों की तरह व्यापारियों एवं उद्योगपतियों के महल भी वैभव तथा विलास के केन्द्र थे। दशकुमारचरितम् से स्पष्ट होता है कि वणिक् वर्ग समृद्ध था। नगरों की भिन्न-भिन्न गलियों में व्यवसायी केन्द्रीत थे। प्रमति की कथा में श्रावस्ती मार्ग में स्थित वणिकों की विशाल बस्ती का उल्लेख मिलता है।[1] उस समय खरीद-फरोख्त में कदर्पिका (कौड़ियों) का प्रयोग किया जाता था। पुष्पोद्भव द्वारा दीनारों के प्रचलन का महत्त्वपूर्ण संदर्भ प्राप्त होता है।[2] कुल मिलाकर दशकुमारचरितम् में एक समृद्ध आर्थिक स्थिति का वर्णन मिलता है।

3. विमर्श

समानता- दोनों ग्रन्थों से स्पष्ट होता है कि अर्थव्यवस्था में कृषि का योगदान सर्वाधिक था। अधिकांश जनता कृषि पर निर्भर थी। किन्तु ज्यादातर कृषि भाग वर्षा पर ही निर्भर था।[3] वर्षा के अभाव एवं अधिकता दोनों ही स्थितियों में अकाल या दुर्भिक्ष पड़ते थे।[4] खेतों में खाद्यान्न फसल के रूप में धान मुख्यतः उपजाया जाता था, क्योंकि तत्कालीन समाज में चावल ही मुख्य खाद्य था।[5]

दोनों ग्रन्थों से स्पष्ट होता है कि कृषि के पश्चात् जीविकोपार्जन का प्रमुख साधन व्यापार-वाणिज्य था। दोनों ग्रन्थों में व्यापार वाणिज्य के उन्नत

---

[1] वही, उ. 5, पृ. 154

[2] वही, पूर्व 4, पृ. 86

[3] मृच्छ. अङ्क 10/26

[4] दशकुमारचरितम् , उ. 3, पृ. 109

[5] वही, उ. 6, पृ. 194

अवस्था में होने का संकेत प्राप्त होता है। समाज मे आर्थिक समृद्धि का मुख्य साधन व्यापार-वाणिज्य ही था। व्यापार न केवल देश में अपितु विदेशों से भी होता था। देशी व्यापार स्थल मार्गों से होता था, जब कि विदेशी व्यापार मुख्यतः जलमार्ग से होता था। दोनों ग्रन्थों में उल्लेख प्राप्त होता है, कि जहाज से समुद्र पार जाकर लोग व्यापार करते थे। वस्तुओं का आयात एवं निर्यात दोनों होता था।[1] धन कमाने के लिए व्यक्ति विदेश भी जाते थे।[2] इससे व्यापारी एवं उच्चवर्ग की आर्थिक स्थिति काफी उन्नत थी। अत्यधिक समृद्धि के कारण लोग अपना अधिक धन विलासिता में खर्च करते थे। लोग वेश्याओं के पास जाकर धन की बर्बादी भी करते थे।

दोनों ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि व्यवसायी वर्ग मुख्यतः नगरों में रहता था। नगरों के भिन्न-भिन्न गलियों में विशेष प्रकार के व्यवसायी रहते थे। उनका अपना संगठन होता था, जिसके माध्यम से वे अपने विवादों का निपटारा कर लेते थे। कुल मिलाकर दोनों ग्रन्थों से उन्नत आर्थिक दशा का आभास होता है।

विषमता- दोनों ग्रन्थों में वर्णित आर्थिक दशा में कुछ विषमता भी दृष्टिगोचर होती है। दशकुमारचरितम् में अर्थ के प्रधान स्रोत वार्ता अर्थात् कृषि, पशुपालन तथा व्यापार तीनों के बारे में पर्याप्त उल्लेख मिलता है।[3] मृच्छकटिकम् में वार्ता के केवल दो अंग कृषि एवं व्यापार के बारे में उल्लेख मिलता है, किन्तु पशुपालन के बारे में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है।

---

1 दश., पूर्वपीठिका 4, पृ. 80-81

2 वही, पूर्वपीठिका 4, पृ. 80-81

3 दश., उ.2 पृ. 28

दशकुमारचरितम् में भू-स्वामित्व का निजी अधिकार होने की बात कही गई है,[1] किन्तु मृच्छकटिकम् में इस प्रकार का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। मृच्छकटिकम् में खेतों की सिंचाई मुख्यतः वर्षा पर निर्भर रहने का उल्लेख प्राप्त होता है तथा कृत्रिम तरीकों से सिंचाई का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। शासकों का ध्यान भी सिंचाई की ओर नहीं जाता है। इसके विपरीत दशकुमारचरितम् में प्राकृतिक साधनों के अलावा कुओं, बड़े टैंकों, बाँधों एवं नहरों द्वारा सिंचाई करने का उल्लेख मिलता है। साथ-ही-साथ शासकों का भी ध्यान सिंचाई की ओर रहता है।

दशकुमारचरितम् में वर्णित है कि लोगों को फलों के प्रति चाव था, किन्तु मृच्छकटिकम् में इस प्रकार का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

दश्कुमारचरितम् से ज्ञात होता है कि खरीद-फरोख्त में कदर्पिका (कौड़ियों) का प्रयोग होता था। मृच्छकटिकम् से इस बात की जानकारी उपलब्ध नहीं होती है।

निष्कर्ष- दोनों ग्रन्थों के रचना-काल में भारत की आर्थिक दशा समुन्नत थी, जिसकी पुष्टि तत्कालीन अन्य ग्रन्थों से भी होती है। आर्थिक-व्यवस्था का आधार कृषि था। खाद्यान्न के रूप में मुख्य उपज धान था। अमरकोश में भूमिका का विभाजन गेहूँ, चावल, जौ और तिल के लिए उपयोगी होने के आधार पर किया है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस समय मुख्य फसलें ये ही थीं।[2]

कृषि अधिकांशतः वर्षा पर निर्भर रहती थी। वर्षा के अभाव में सूखा एवं अधिकता की स्थिति में बाढ़ आना स्वाभाविक था। सूखा एवं बाढ़ दोनों

---

1 गुप्ता, डी.के.; सोसाइटी एण्ड कल्चर इन दि टाइम ऑफ दण्डिन, पृ. 302

2 अमरसिंह, अमरकोश, 9, 6-8

ही स्थितियों में अकाल तथा दुर्भिक्ष आना भी स्वाभाविक था। वराहमिहिर ने दुर्भिक्षों का वर्णन कई स्थानों पर किया है।[1] कभी-कभी फसलों को जंगली पशु, चूहे, टिड्डियाँ और चिड़ियाँ नष्ट कर देती थीं।[2] मृच्छकटिकम् में पशुपालन का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु दशकुमारचरितम् में अर्थव्यवस्था के प्रमुख स्रोत के रूप में 'वार्ता' अर्थात् कृषि, पशुपालन एवं व्यापार-वाणिज्य का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में वार्ता के रूप में तीनों का उल्लेख किया है। कालिदास के अनुसार राष्ट्रीय आर्थिक विकास में कृषि और पशुपालन का बहुत महत्त्व है।[3] इससे निष्कर्ष निकलता है कि मृच्छकटिकम् के रचना-काल में भी भारतीय अर्थव्यस्था के प्रमुख स्रोत के रूप में वार्ता अर्थात् कृषि, पशुपालन एवं वाणिज्य का पर्याप्त महत्त्व था।

उत्तर भारत में नदियों से अधिकतर सिंचाई होती थी। मानसून की वर्षा से भी खेती के लिए पर्याप्त पानी मिल जाता था, परन्तु मध्यभारत और पश्चिमी भारत में नदियों से सिंचाई संभव न थी, अतः सरकार ने और जनता ने अनेक तालाब, झीलें और कुएं खुदवाए। नारद ने भी सिंचाई के लिए पानी लाने वाली नालियों और पानी को रोकने वाले बांधों का उल्लेख किया है।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि सिंचाई के साधने अधिकतर प्रजा ही बनवाती थी। परन्तु जहाँ आवश्यकता हुई, सरकार भी आर्थिक सहायता देती थी, जैसे कि स्कन्दगुप्त ने सुदर्शन झील की मरम्मत कराई।[5]

---

[1] मैटी इकोनामिक लाइफ, पृ. 245, 253

[2] वही, पृ. 245-256

[3] कालिदास, रघुवंश, 16, 2

[4] नारद, 11, 18, 20, 21

[5] फ्लीट, पृ. 56

जहां तक भू-स्वामित्व का प्रश्न है, नारद[1] (100 से 400 ई.) और बृहस्पति[2] (300 से 500ई.) ने लिखा है कि जिस तरह भूखण्ड पर किसी व्यक्ति का तीस वर्ष तक अधिकार रहा हो, वह उसका स्वामी हो जाता है। बृहस्पति के अनुसार तीन पीढ़ियों तक जिस व्यक्ति का खेत पर अधिकार रहा हो, वह कानूनन उस भूमिखण्ड का स्वामी हो जाता है।[3] भू-स्वामित्व के स्म्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि दोनों ग्रन्थों के रचना-काल में निजी स्वामित्व के साथ-साथ राजा को भी पृथ्वी का रक्षक होने के रूप में अधिपति माना जाता था और वह ग्राम-सभा की सहमति से गांव या भूमिखण्ड दान में दे सकता था।

तत्कालीन अन्य ग्रन्थों से स्पष्ट होता है कि लोगों को फलों के प्रति चाव था। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में कटहल, केला, जामुन, अनार, अंगूर आदि के पौधों की सुरक्षा के प्रबंध बताये हैं।[4] इस आधार पर यह निष्कर्ष निकला जा सकता है, कि उस समय इन फलों का पर्याप्त प्रचलन था। प्राचीन भारत में व्यापार-वाणिज्य में वस्तु-विनिमय की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। गांवों में विनिमय का प्रमुख साधन यही था।[5] दूर-दूर के व्यापारी भी मण्डियों में वस्तु-विनिमय करके व्यापार करते थे।[6]

---

1 नारद, 1, 91

2 वृहस्पति, 7, 27-28

3 वही, 7, 60

4 वराहमिहिर, वृहत्संहिता 55, 6

5 वैजयन्ती, पृ. 123, 1, 12; पृ. 128, 1, 141

6 समरैच्चकहा 6, पृ. 16 त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित जिल्द 1, पृ. 7 के आगे

कभी-कभी आभूषणों[1] व चावलों[2] का भी विनियम के साधनों के रूप में प्रयोग किया जाता था। कौड़ियाँ तो विनिमय का साधन प्राचीन काल से ही थीं।[3]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि दोनों ग्रन्थों में जिस आर्थिक दशा का वर्णन मिलता है वह लगभग समान है। इसकी पुष्टि भी तत्कालीन ग्रन्थों से हो जाती है।

(ग) 1. मृच्छकटिकम् में वर्णित धार्मिक स्थिति

मृच्छकटिकम् में हिन्दू धर्म के प्राचीन तथा नवीन दोनों रूप साथ-साथ मिलते हैं। वैदिक यज्ञों, वेद-मन्त्रों के उच्चारण तथा पशु-बलि की प्रथा प्रचलित थी। चारुदत्त ने अपने परिवार के वैदिक मन्त्रों के उच्चारण तथा यज्ञादि से पवित्र होने का कथन किया है।[4] राजा पालक 'यज्ञवाट' में मारा गया। 'यूप' अर्थात् यज्ञ स्तम्भ का भी उल्लेख हुआ है। वैदिक देवताओं में इन्द्र तथा रुद्र की चर्चा आई है, यद्यपि रुद्र ने शिव का रूप धारण कर लिया है और इन्द्र की पूजा ने 'इन्द्रध्वज' के प्रदर्शन का रूप ग्रहण कर लिया है।[5] नए देवता भी प्रचलन में आ रहे थे। चन्दनक ने आर्यक की रक्षा के लिए हर, विष्णु, ब्रह्मा, रवि, चन्द्रमा तथा शुम्भ-निशुम्भ को मारने वाली देवी की मनौती की है।[6] शिव को वृषभ की सवारी करने वाले तथा दक्ष के

---

1. राजतरंगिणी 7, 1621
2. वही, जिल्द 2, पृ. 313
3. प्रबंध चिन्तामणि, पृ. 46
4. मृच्छ., अङ्क 10/12
5. वही, अङ्क 10/7
6. वही, अङ्क 6/27

यज्ञ को विध्वंस करने वाले, कार्तिकेय के पिता के रूप में स्मरण किया गया है। षडानन कार्तिकेय सेंध लगाने वाले चोरों के देवता कहे गए हैं तथा क्रौञ्च पर्वत का छेदन करने वाले बताए गए हैं। शिव की पत्नी देवी की पूजा का संकेत मिलता है। 'सह्यवासिनी' के रूप में दक्षिण में देवी की ही पूजा होती है। शकार अपने को 'वासुदेव' कहता है।

देव-मूर्तियों की पूजा का भी प्रचलन था। 'नगर-देवता' के प्रांगण का मैत्रेय ने उल्लेख किया है। ऐसा लगता है देव-मूर्तियाँ काठ अथवा पत्थर की बनाई जाती थीं। नगर में कामदेव का मंदिर था। वसन्तसेना के भवन में भी मंदिर होना बताया गया है। चारुदत्त ने अनेक मंदिरों के निर्माण में सहायता पहुँचाई है। वसन्तसेना के महल में भी दैनिक पूजा-अर्चना के लिए एक ब्राह्मण रखा गया था।

लोक-जीवन में गाय तथा ब्राह्मण को विशेष महत्त्व मिला था। पुनर्जन्म तथा कर्मसिद्धान्त में सामान्य विश्वास था। चारुदत्त- जैसा धर्मनिष्ठ व्यक्ति ही नहीं, बल्कि विट तथा स्थावरक- जैसे लोग भी इस जन्म में बुरा कर्म करने से डरते थे क्यों कि उसका दुष्परिणाम उन्हें अगले जन्म में भोगना पड़ेगा। परलोक में स्थित पितरों के प्रति मनुष्य का कर्त्तव्य माना जाता था और उनकी तुष्टि के लिए पुत्र-जन्म का विशेष महत्त्व समझ जाता था।[1]

धर्म-निष्ठा के स्वाभाविक अनुषंग-रूप में लोगों की सामान्य आस्था भाग्य में थी। भाग्य के अनियन्त्रित खेल का निरूपण सम्पूर्ण नाटक में प्रतिध्वनित है।

बौद्धधर्म भी उन्नत अवस्था में दिखाई पड़ता है। जाति, आयु अथवा सामाजिक स्तर के बिना किसी प्रतिबंध के, कोई भी 'भिक्षु' अथवा 'श्रवण'

---

1 मृच्छ., अङ्क 10/7

बन सकता था। संवाहक श्रवण बन गया था। स्त्रियाँ भी भिक्षुणी बन जाती थीं। ये भिक्षु जीवन के सभी लौकिक सम्बन्धों तथा आनन्दों का परित्याग करते थे।[1] प्रायः प्रत्येक नगर में मठ या विहार बने रहते थे। इन विहारों पर राजा का नियंत्रण रहता था और उन्हें संभवतः राज्य से आर्थिक प्रोत्साहन एवं सहायता मिलती थी। संवाहक श्रमण आर्यक के राज्यारोहण पर देश के सम्पूर्ण विहारों का कुलपति बना दिया गया। तथपि, बौद्ध श्रमणों का दर्शन अपशकुन समझा जाता था और ऐसा जान पड़ता है, उन्हें जनता का सामूहिक आदर एवं सम्मान प्राप्त नहीं था। भिक्षु 'धर्माक्षरों' का पाठ करते थे और स्वर्ग-प्राप्ति की कामना से अनुप्राणित रहते थे। विभिन्न प्रकार के व्रतों का प्रचलन था। सूत्रधार की पत्नी ने 'अभिरूपपति' नामक व्रत किया था।

2. दशकुमारचरितम् में वर्णित धार्मिक स्थिति

दशकुमारचरितम् के अध्ययन एवं विश्लेषण से ऐसा प्रकट होता है कि तत्कालीन समाज में वैदिक सनातन धर्म का प्रभाव था एवं मूर्तिपूजा का प्रचलन जोरों पर था। तत्कालीन समाज में विष्णु, शिव, सूर्य तथा कार्तिकेय आदि देवता मुख्य रूप से पूज्यमान थे। वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध तथा अन्य धर्मों एवं मतों के प्रचलित होने पर भी धार्मिक सहिष्णुता एवं उदारता विद्यमान थी।

दशकुमारचरितम् के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उस समय विष्णु और शिव समान रूप से पूज्यमान थे। देवी, भवानी, पार्वती एवं लक्ष्मी की मान्यता एवं पूजा के उद्धरण भी जगह-जगह दृष्टिगोचर होते हैं। सूर्य की पूजा भी तत्कालीन समाज में प्रचलित थी। उपहारवर्मा के वर्णन से कार्तिकेय या

[1] मृच्छ., अङ्क 8/1-3

गणेश की महत्ता प्रतिपादित होती है।[1] दण्डी ने भगवान् विष्णु को एक सुन्दर उपमा के रूप में प्रस्तुत किया है।[2] दण्डी के एक विवरण के अनुसार अत्यन्त चतुर लोग भी ब्रह्मा की खिंची रेखा को नहीं मिटा सकते।[3] देवी या भवानी विषयक धारणा बलवती थी। एक स्थल पर एक कुमार को देवी दुर्गा पुत्र की खबर प्रचलित होने पर सारे सैनिक वश में हो जाते हैं। राजकुमार भास्कर वर्मा को देवी दुर्गा का पुत्र बताकर कार्य-सिद्ध करना समाज में देवी विषयक मान्यता की पुष्टि करता है।[4]

गौण रूप से ही लेकिन उस समय सूर्य की पूजा की जाती थी, प्रातः उन्हें जल एवं पुष्प का अर्घ्य दिया जाता था। दशकुमारचरितम् में अन्य देवताओं के अलावा कामदेव, यमराज तथा सरस्वती[5] का भी दण्डी द्वारा कई स्थानों पर उल्लेख किया गया है।

धर्माचरणके अन्तर्गत यज्ञ, व्रत-उपवास, देवार्चन, सन्ध्यावन्दन, तपश्चर्या, तीर्थयात्रा, षोडश संस्कार एवं अतिथि सत्कार का समावेश किया जा सकता है।[6]

दशकुमारचरितम् में नये वैदिक पुनरुद्धार के फलस्वरूप यज्ञ की बजाय पूजा-पाठ को ज्यादा महत्त्व दिया जाता था तथा भक्ति भावना की प्रथा का प्राधान्य हो गया था। मूर्ति पूजा की भक्ति भावना की तुलना में यज्ञ-पूजा

---

1. अदृश्यत च स्वप्ने हस्तिवक्त्रो भगवान्। दश., उ. 3, पृ. 92
2. वही उ. 2, पृ. 61
3. न ह्यलमतिनिपुणोऽपि पुरुषो नियतिलिखितां लेखामतिक्रमितुम्। वही, पृ. 56
4. अयं च राजसूनुर्भवान्या पुत्रत्वेन परिकल्पितः। वही, उ. 8, पृ. 285
5. वही, उ. 1, पृ. 2
6. शर्मा, चित्राः संस्कृत नाटकों में समाज- चित्रण, पृ. 243

गौण हो गयी थी। यद्यपि होम, जप, तप आदि क्रियाएं ब्राह्मणों द्वारा सम्पन्न करने के उदाहरण दशकुमारचरितम् में उपलब्ध हो जाते हैं।

देवताओं को प्रसन्न करने के लिए नृत्य एवं संगीत सभा का भी आयोजन किया जाता था। राजकुमारी, कन्दुकावती विन्ध्यवासिनी देवी की पवित्र सेवा में कन्दुक नृत्य प्रस्तुत करती है।[1]

व्रत-उपवास भी धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठानों पर तिथि विशेष पर और अभीष्ट सिद्धि के लिए व्रत, उपवास रखे जाते थे।[2]

दशकुमारचरितम् में विरूपक के प्रसङ्ग से हमें तत्कालीन जैन धर्मावलम्बियों का काफी ज्ञान प्राप्त हो जाता है। दण्डी ने जैन धर्मावलम्बियों को जीवनयापन में होने वाली कठिनाइयाँ एवं उनके मार्ग की असारता प्रदर्शित किया है। मनुष्य जैन धर्म के कड़े अनुशासन से परेशान हो जाता है। लेखक जैन धर्म मानने वालों को पाखण्डी मानता है एवं विरूपक के रूप में जैन धर्म छोड़कर सत्य का वैदिक मार्ग अपनाना चाहता है। जैन को दण्डी ने श्रमण कहकर सम्बोधित किया है।[3]

बौद्धधर्म की स्थिति के बारे में दशकुमारचरितम् से बहुत ही कम प्रकाश पड़ता है। एक दो प्रक्षिप्त अंशों को छोड़कर लेखक बौद्ध धर्म के बारे में चुप है। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म बहुत ही दयनीय स्थिति में था। एक बौद्ध भिक्षुणी का गणिका के यहाँ दूती कर्म करने का संदर्भ प्राप्त

---

1 गुप्ता, डी.के. सोसाइटी एण्ड कल्चर इन दि टाइम ऑफ दण्डिन, पृ. 329

2 दश, उ. 3, पृ. 105

3 दश. उ. 2, पृ. 32

होता है।[1] इससे स्पष्ट होता है कि स्त्रियाँ भी बौद्ध भिक्षुणी बनती थीं, जो दासी तथा दूती जैसा निम्न स्तर का कार्य करती थीं। महायान एवं हीनयान तथा उसके अनुयायियों के विषय में हमें कोई जानकारी दशकुमारचरितम् से प्राप्त नहीं होती। लेकिन प्रकीर्ण साधनों से इनके अस्तित्व का ज्ञान हो जाता है।

दशकुमारचरितम् में ऐसे अनेक संदर्भ उपलब्ध हो जाते हैं जो पुनर्जन्म के सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हैं।[2] जन्म-मृत्यु एवं पुनर्जन्म की धारणा परलोक की सत्ता को मजबूत आधार प्रदान करते हैं। दशकुमारचरितम् में लोग मृत्यु के भय से विचलित दिखाई देते हैं।

भाग्य भी तत्कालीन समाज में मानव-जीवन को प्रभावित एवं नियमित करने के कारण के रूप में प्रकट होता है। भाग्य की यही अवधारणा हमें दशकुमारचरितम् में विभिन्न स्थानों पर दृष्टिगोचर होती है। इसमें कई ऐसे स्थल हैं, जहाँ भाग्य को कार्य हेतु बताते हैं।[3]

3. विमर्श

समानता- मृच्छकटिकम् एवं दशकुमारचरितम् के अनुशीलन से दोनों ग्रन्थों में वर्णित धार्मिक दशा में अत्यन्त समानता दृष्टिगोचर होती है।

समाज में वैदिक सनातन धर्म का प्रभाव था। वैदिक यज्ञ एवं वेदमंत्रों के उच्चारण किए जाते थे।[4] इन्द्र, रुद्र, शिव, विष्णु, ब्रह्मा तथा सूर्य आदि

1 ततश्च कांचित्काममञ्जर्याः प्रधानदूतीं ...। वही, उ. 2, पृ. 50

2 नूनमेषा पूर्वजन्मनि मे जाया यज्ञवती। वही, पूर्व. 5, पृ. 114

3 तन्निखिलं दैवायत्तमेवावधार्य कार्यम्। वही, पूर्व. 1, पृ. 23

4 मृच्छ., अङ्क 10/12

देवताओं की पूजा होती थी।[1] दोनों ग्रन्थों में भगवान् शंकर के पुत्र कार्तिकेय की पूजा का उल्लेख मिलता है। देवी की उपासना की जाती थी, जो सिद्धिदात्री एवं शक्तिशाली थी।[2] दोनों ग्रन्थों से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में मूर्तिपूजा का पर्याप्त प्रचलन था। देव-मूर्तियों की स्थापना मंदिरों में की जाती थी। इस समय से भव्य मंदिरों का निर्माण शुरू हो चुका था। कामदेव[3] की पूजा एवं कामदेव के मंदिरों का उल्लेख दोनों ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वसन्तोत्सव के अवसर पर कामदेव की पूजा होती थी।

दोनों ही ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में पुनर्जन्म एवं कर्मसिद्धान्त[4] में विश्वास प्रचलित था। लोगों को इस बात की जानकारी रहती थी कि अच्छे कर्मों को करने से पुण्य एवं बुरे कर्मों को करने से पाप होता है। लोगों को इस बात का भी भय रहता था कि पाप कर्मों को करने से व्यक्ति का पुनर्जन्म होगा एवं वह नाना प्रकार के कष्टों को भोगेगा। लोग मृत्यु के भय से विचलित दिखाई देते हैं।

दोनों ग्रन्थों से स्पष्ट होता है कि भाग्य मानव जीवन को प्रभावित एवं नियमित करने के एक प्रमुख कारक के रूप में प्रकट होता है। भाग्य के वशीभूत होकर ही व्यक्ति उन्नति करता है तथा पतन की ओर भी अग्रसर होता है।[5]

---

1 दश., उ. 2, पृ. 61, 56

2 वही, उ. 8, पृ. 285

3 वही, उ. 1, पृ. 2

4 वही, पूर्व. 5, पृ. 11, 24

5 दश., पूर्व 1, पृ. 23

समाज में बौद्ध धर्म के अस्तित्व[1] का आभास मिलता है। यह भी ज्ञात होता है कि न केवल पुरुष अपितु स्त्रियाँ[2] भी बौद्धभिक्षुणी हो सकती थीं।

व्रत-उपवास धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठानों पर, तिथि विशेष पर और अभीष्ट सिद्धि के लिए व्रत उपवास रखे जाते थे।[3]

विषमता- यद्यपि दोनों ग्रन्थों में देवी-देवताओं के नाम समान हैं, किन्तु कुछ देवताओं के गुणों में अन्तर दृष्टिगोचर होता है। मृच्छकटिकम् में कार्तिकेय का वर्णन मुख्यतः सेंध लगाने वाले चोरों के देवता के रूप में हुआ है, जब कि दशकुमारचरितम् में कार्तिकेय देवता के इस रूप का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है।

दशकुमारचरितम् से ज्ञात होता है कि देवताओं को प्रसन्न करने के लिए नृत्य एवं संगीत सभा का आयोजन होता था।[4] किन्तु मृच्छकटिकम् से यह बात ज्ञात नहीं हो पाती है।

दशकुमारचरितम् में वैदिक धर्म के पुनरुद्धार के फलस्वरूप यज्ञ की बजाय पूजा-पाठ को ज्यादा महत्त्व दिया जाता था, भक्ति-भावना की प्रथा का प्राधान्य था तथा मूर्तिपूजा की भक्ति भावना की तुलना में यज्ञ-पूजा गौण हो गई थी। जब कि मृच्छकटिकम् से इस बात का आभास मिलता है कि उस समय यज्ञ आदि की प्रधानता थी।

---

1 मृच्छ. अङ्क 8/1-3

2 दश., उ. 2, पृ. 50

3 दश., उ0. 2, पृ. 32

4 गुप्ता, डी.के.; सोसाइटी एण्ड कल्चर इन दि टाइम्स ऑफ दण्डिन, पृ. 329

मृच्छकटिकम् में बौद्ध धर्म के बारे में पर्याप्त उल्लेख मिलता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय बौद्ध धर्म उन्नत अवस्था में था तथा उसके अनुयायियों की संख्या भी काफी थी। इसके विपरीत दशकुमारचरितम् में बौद्ध धर्म के बारे में बहुत कम जानकारी है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि दशकुमारचरितम् के रचना-काल में बौद्ध धर्म अपने पतन की ओर अग्रसर था।

मृच्छकटिकम् से ज्ञात होता है कि इस समय प्रायः प्रत्येक नगर में बौद्धमठ या विहार होते थे तथा उन्हें राज्य से आर्थिक सहायता मिलती थी। साथ ही साथ राज्य का नियंत्रण भी इन मठों एवं विहारों पर बना रहता था। दशकुमारचरितम् में इन बातों का कोई आभास नहीं मिलता है।

दशकुमारचरितम् से जैन धर्म के सम्बन्ध में काफी जानकारी प्राप्त हो जाती है। उसके अनुसार जैन धर्म के लोग कड़े अनुशासन का पालन करते थे तथा अत्यधिक परेशानी का सामना करते थे। दण्डी जैनियों को पाखण्डी मानते हैं। मृच्छकटिकम् में जैन धर्म के सम्बन्ध में किसी भी जानकारी का नितान्त अभाव है।

निष्कर्ष - दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दोनों ग्रन्थों के रचना-काल में वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ। अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि वैदिक काल शथब्दियों तक चलता रहा और इस बीच वैदिक धर्म का निरन्तर विकास होता रहा। यह विकास केवल आन्तरिक विकास ही नहीं था, अपितु इसके पीछे अवैदिक सांस्कृतिक धाराएं भी क्रियाशील थीं। परम्परागत भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार प्रकृति के विभिन्न पक्षों या उपादानों तथा भावों के अधिष्ठाता देवों की उपासना की जाती है। वैदिक धर्म के विकास के संदर्भ में यही दृष्टि सत्य प्रतीत होती है।

वैदिक धर्म को प्रायः 'कर्मकाण्ड' कहा जाता है, यद्यपि ज्ञानकाण्ड में वैदिक धर्म की परिणति होती है। कर्मकाण्डपरक वैदिक धर्म को जानने और यज्ञ के स्वरूप को समझने के लिए 'देव' स्वरूप समझना आवश्यक है। यज्ञ में देवता के उद्देश्य से द्रव्य-त्याग किया जाता है। जिस देवता के लिए हवि ली जाती थी, होता उसका मन में ध्यान करता है।

वैदिक धर्म में विकास के साथ-साथ कुछ देवताओं के गुणों में अन्तर होना स्वाभाविक है, जैसे कार्तिकेय के संबंध में दिखाई देता है।

यद्यपि मृच्छकटिकम् में जैन धर्म के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं मिलता, तथपि यह तथ्य है कि इस काल में न केवल ब्राह्मण धर्म, अपितु बौद्धएवं जैन धर्मों का भी पर्याप्त विकास हुआ, क्यों कि यह काल धार्मिक सहिष्णुता का काल था।[1]

मृच्छकटिकम् के रचना-काल में देवी देवताओं तथा धार्मिक मतों के प्रति विश्वास तथा उपासना का सम्बन्ध भक्तिवाद से था। इस भक्तिवाद के साथ-साथ वैदिक कर्मकाण्ड की विधियों का भी प्रचलन था। अनेक शासक तथा प्रजाजन भक्ति प्रधान धर्म के साथ-साथ वैदिक यज्ञों का सम्पादन भी करते थे। इस धर्म का प्रतिनिधित्व बलि देने के रूप में प्रचलित था।[2]

मृच्छकटिकम् से यह ज्ञात होता है कि उस समय बौद्ध धर्म का पर्याप्त विकास हुआ था, जब कि दशकुमारचरितम् से उसके पतन का संकेत मिलता है। इसका मुख्य कारण यह था कि मृच्छकटिकम् का रचना-काल सब धर्मों के पनपने का काल था। इस समय साम्प्रदायिक मतभेद नहीं था। हिन्दू मंदिर

---

1 डा. उपाध्याय, वासुदेव; गुप्त साम्राज्य का इतिहास, द्वितीय खण्ड

2 प्रसाद, ईश्वरी; प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति, धर्म, दर्शन, पृ.161

के पास बौद्धों का मठ-विहार वर्तमान था और भगवान् बुद्ध की प्रतिमा के पास जैन मूर्तियां थीं।[1] दशकुमारचरितम् में बौद्ध धर्म का पतन दृष्टिगोचर होता है जिसका कारण यह था कि उसके रचना काल में भारत में बौद्ध धर्म में अनेक विकृतियाँ आ गई थीं। अनेक तांत्रिक क्रियाएं एवं अन्धविश्वास ने अपनी जड़ें जमा लीं थीं। तथा भ्रष्टाचार व्याप्त हो गया था।

इस प्रकार मृच्छकटिकम् के रचना-काल में भारतीय समाज में ब्राह्मणधर्म, जैनधर्म एवं बौद्धधर्म का पर्याप्त विकास हुआ, जब कि दशकुमारचरितम् के रचना-काल में ब्राह्मणधर्म का मुख्य रूप से विकास हुआ, किन्तु बौद्ध धर्म का पतन प्रारंभ हो गया। कुल मिलाकर दशकुमार-चरितम् में जिस धार्मिक दशा का उल्लेख प्राप्त होता है, लगभग उसी प्रकार की धार्मिक दशा वर्तमान समय में भारत में भी विद्यमान है।

[1] डॉ. उपाध्याय, वासुदेव, गुप्तसाम्राज्य का इतिहास, द्वितीय खण्ड

सप्तम अध्याय

अध्याय-7

मूल्याङ्कन

सामान्यतः संस्कृत काव्य राज्याश्रय प्राप्त कवियों द्वारा लिखे गए और उनमें जो कथानक चुना गया, उसकी धुरी राजशाही के इर्द गिर्द घूमती थी। प्रायः विदेशी विद्वान् संस्कृत वाङ्मय पर इस बात का आरोप लगाते हैं, कि यह राजवंशों के वर्णन में व्यस्त साहित्य है, इसीलिए इसमें या तो वीर या श्रृंगार रस की प्रधानता देखने को मिलती है और लोकजीवन तथा धार्मिक, सामाजिक व वैचारिक स्वतंत्रता का संस्कृत साहित्य में सर्वथा अभाव है।

किन्तु भासकृत चारुदत्त नाटक और कालान्तर में लिखित मृच्छकटिकम् व दशकुमारचरितम् जैसे काव्यों की सामाजिक पृष्ठभूमि इन आरोपों को एक सिरे से निरस्त करती है। जनसामान्य और लोक जीवन से जुड़े इतिवृत्ति को लेकर लिखा गया मृच्छकटिकम् नाटक संस्कृतनाट्य साहित्य के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी कदम है। इसी प्रकार गद्यसाहित्य के क्षेत्र में दण्डी के दशकुमारचरितम् में यद्यपि राजपुत्रों के इर्द गिर्द कहानी घुमती है, किन्तु उसकी मूख्य कथावस्तु समाज के लोकजीवन की विविधता को प्रस्तुत करने का महाकवि का एक अनूठा प्रयास है।

संस्कृत वाङ्मय में एक ओर धार्मिक कट्टरता और रूढ़िवाद के भी सबल प्रमाण मिलते हैं, जब कि इन दोनों ग्रन्थों में एक प्रकार की धर्म-निरपेक्षता कट्टरतावाद एवं आडम्बरवाद का निषेध और लोक-अभिरुचि के पात्रों, घटनाओं और सामाजिक सरोकारों के संगुफन से इन कृतियों का महत्त्व द्विगुणित हो गया है।

यद्यपि दोनों कृतियों में शिल्प की कोई समानता नहीं है एक नाट्य है तो दूसरा गद्यसाहित्य-कथा। फिर भी, क्योंकि ये दोनों कृतियाँ सामाजिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता की प्रतिनधि बन गई हैं, इसलिए शिल्प का अन्तर होने पर भी हमने दोनों कृतियों के सामाजिक सन्दर्भों, सांस्कृतिक मूल्यों का और अन्य स्वतंत्रतापरक विचारों का एक तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयत्न किया है, जिसके मुख्य रूप से निम्नलिखित बिन्दु महत्त्वपूर्ण हैं-

इन दोनों ग्रन्थों के रचना-काल में लगभग सौ वर्षो का ही अन्तर है, अतः इतने कम समय में समाज में कोई मूलभूत परिवर्तन आना अत्यधिक मुश्किल है। इसलिए दोनों ग्रन्थों में वर्णित वर्ण-व्यवस्था में अत्यधिक समानता दृष्टिगोचर होती है। इन दोनों ग्रन्थों में वर्णित वर्ण-वयवस्था एवं जाति-प्रथा में जो थोड़ी सी विषमता दिखाई देती है, उसका कारण यह है कि दशकुमारचरितम् का रचना-काल सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है, जो भारतीय इतिहास में बौद्ध एवं जैन धर्मों के प्रति ब्राह्मण या वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया का काल है। भारत में इसी समय से वैदिक धर्म का पुनरुत्थान शुरू होता है। इस स्थिति में ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित मान्यताओं का समाज में पुनर्प्रचलन होना निश्चित था। इसी कारण से मृच्छकटिकम् की अपेक्षा दशकुमारचरितम् में वर्ण एवं जाति बंधनों में कुछ कठोरता भी दृष्टिगोचर होती हैं ऋग्वैदिक काल से प्रारंभ वर्ण-व्यवस्था में धीरे-धीरे कठोरता आती गई। मृच्छकटिकम् के समय तक इसमें कुछ शिथिलता के लक्षण प्रकट होते हैं, किन्तु बाद में कठोरता में लगातार वृद्धि होती गई तथा वर्तमान भारत में इस कु-प्रथा ने समाज को कई भागों में विभाजित कर रखा है, जिसका परिणाम आज भारतीय समाज भुगत रहा है।

दशकुमारचरितम् में चारों आश्रमों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास का विधिवत् उल्लेख मिलने से यह कहा जा सकता है कि

प्राचीनकाल से चली आ रही यह व्यवस्था कम से कम दशकुमारचरितम् के रचना-काल तक तो समाज में प्रचलित रही, वर्तमान समय में यह लुप्त- सी हो गयी है। यद्यपि मृच्छकटिकम् में आश्रम व्यवस्था का उल्लेख नहीं मिलता तो भी प्रसंगवश ही सही गृहस्थाश्रम एवं उससे सम्बन्धित जानकारी अवश्य मिल जाती है। मृच्छकटिककार शूद्रक द्वारा आश्रम-व्यवस्था का उल्लेख न करने का कोई मन्तव्य नहीं था, अपितु कथावस्तु ही कुछ इस प्रकार की थी, जिसमें आश्रम-व्यवस्था का उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा गया। इसका मतलब यह नहीं निकालना चाहिए कि मृच्छकटिकम् के रचना-काल में भारतीय समाज में आश्रम-व्यवस्था नहीं थी। यह पूर्णतः वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित थी, अतः प्राचीनकाल में यह व्यवस्था अत्यन्त सफल रही। कालान्तर में जब से समाज ने इस-व्यवस्था को ठुकरा दिया, तब से समाज का पतन प्रारम्भ हो गया। आजकल तो इस व्यवस्था का विकृत एवं विकराल स्वरूप ही शेष है।

मृच्छकटिकम् के समाज में नारी को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। नारियाँ प्रायः पतिव्रता होती थीं। दशकुमारचरितम् के समाज में नारियों की दशा पूर्वकाल की अपेक्षा गिरी हुई प्रतीत होती है। इस समय तक स्त्रियों के लिए उच्च शिक्षा का द्वार लगभग बन्द हो चुका था। दोनों ग्रन्थों में सती जैसी क्रूर प्रथा का अस्तित्व दिखाई देता है, जिससे उनकी दयनीय स्थिति का आभास मिल जाता है। ऋग्वैदिककालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति जितनी उच्च एवं सम्मानजनक थी इस समय तक वैसी नहीं रह पाई तथा क्रमिक रूप से उनकी स्थिति में क्षय होता रहा। क्षय की यह प्रक्रिया वर्तमान समय में भी समाज में दृष्टिगोचर होती है, जब स्त्रियों को केवल भोग की वस्तु समझा जाता है। दोनों ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल के समान ही वैवाहिक पद्धतियाँ उस समय भी प्रचलित थीं तथा कुछ परिवर्तनों

के साथ वर्तमान में भी उसी रूप में प्रचलित हैं। किन्तु उस समय बाल-विवाह का अभाव था तथा सामान्यतः सवर्ण विवाह होते थे। बहुविवाह का पर्याप्त प्रचलन था। तत्कालीन समाज में प्रचलित आठ प्रकार के विवाहों में मुख्य रूप से ब्राह्म विवाह वर्तमान समय में लोकप्रिय है। दोनों ग्रन्थों में वर्णित वेश्या एवं गणिका वर्ग की स्थिति में निरन्तर गिरावट जारी है तथा वर्तमान समय में इनके विभत्स रूप को देखा जा सकता है।

प्राचीनकाल में शिक्षा का विकास इस आधार पर किया गया था, कि मानव का सर्वाङ्गीण विकास हो सके। मानव समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह सम्यक् रूपेण कर सके। शिक्षा का यह उद्देश्य दोनों ग्रन्थों के रचना-काल में भी भारतीय समाज में विद्यमान था। तत्कालीन समाज में शिक्षा के अन्तर्गत लगभग सभी विषय आ जाते थे। वेदों, उपनिषदों युद्ध-कला आदि के साथ-साथ समाज में अपने कर्त्तव्यों का सम्यक् निर्वाह करने के लिए विभिन्न प्रकार के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक शिक्षा प्रदान की जाती थी। उस समय गुरुकुल प्रणाली प्रचलित थी, जिसके अन्तर्गत विद्यार्थी गुरुकुल में गुरु के समीप में ही रहकर गुरु की सेवा करता तथा अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करता था। वर्तमान समय में शिक्षा का यह उद्देश्य पूर्णतः बदल गया है और यदि स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो के उद्देश्य केवल आजीविका की प्राप्ति मात्र रह गया है।

तत्कालीन समाज में दास-प्रथा पूर्णतः विद्यमान थी। स्वामी द्वारा दास के निर्वाह का उत्तरदायित्व वहन करना पड़ता था। दास के शरीर पर स्वामी का नियन्त्रण था, किन्तु उसे जान से मारने का अधिकार नहीं था। दास पर सामान्यतः विश्वास नहीं किया जाता था और दास को कोई कानूनी अधिकार नहीं थे। दास को व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार था, जिसका उल्लेख मृच्छकटिकम् में प्राप्त होता है। बाद में उसके इस अधिकार में कटौती कर

दी गई। दासों की मुक्ति तो मृच्छकटिकम् के रचना-काल तक संभव थी, किन्तु परवर्ती काल में यह असंभव हो गया। दासी के साथ उनके स्वामी शारीरिक सम्बन्ध बना सकते थे, यद्यपि इसके लिए उन्हें कुछ धन देना पड़ता था। दासियाँ किराए पर भी दी जाती थीं। उन्हें अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता था, जिससे उनकी बहुत दुर्दशा थी। उनकी दुर्दशा कालान्तर में बढ़ती चली गई। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि भारत में दासों की स्थिति पाश्चात्य दासों की तुलना में अच्छी थी। भारत में दासों के साथ मानवीय और सहृदयतापूर्वक व्यवहार किया जाता था। संभवतः इसी कारण चतुर्थ शताब्दी ई. पू. में भारत आने वाले यूनानी यात्री मेगस्थनीज को भारत में दास प्रथा के प्रचलित होने का आभास तक नहीं हो पाया। उसके अनुसार भारत में दास प्रथा थी ही नहीं। यद्यपि विश्व में दास प्रथा की समाप्ति कर दी गई है, तथपि वर्तमान समय में भी यह अपने भिन्न रूप में न केवल भारत में अपितु अनेक देशों में भी विद्यमान है।

भारतीय समाज में अत्यन्त प्राचीन काल में प्रचलित खान-पान दोनों ग्रन्थों के रचना-काल में भी समान रही। खाद्यान्न, फल, दूध एवं दूध से बनी सामग्रियाँ तथा मांसाहार प्रचलन में था। इस समय ब्राह्मण वर्ण के लोग भी मांसाहार करते थे। मनु ने भी ब्राह्मणों को आपत्तिकाल में मांसाहार करने की अनुमति दी है। सुरापान भारतीय समाज में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। उस समय भी यह व्यसन प्रचलन में था, किन्तु ब्राह्मणों में काफी कम हो गया था। कुछ महिलाएं भी मदिरापान करती थीं, विशेषकर वेश्याएं। प्राचीनकाल में मनु ने तीनों उच्च वर्णो के लिए सुरापान वर्जित बताया है, साथ ही मांस न खाने के लिए लोगों को प्रोत्साहित किया है। वर्तमान समय

में भी न केवल भारत में अपितु पूरे विश्व में लोग इन चीजों के सेवन से बच रहे हैं।

मृच्छकटिकम् के रचना-काल तक भारत में सामंतवाद का प्रचलन प्रारम्भ हो चुका था तथा दशकुमारचरितम् के रचना-काल तक यह और अधिक प्रबल रूप में आ चुका था। इसके अन्तर्गत देश में किसी एक प्रबल केन्द्रीय सत्ता का अभाव था, जो छोटे-छोटे राज्यों को अपने नियंत्रण में कर सके। इसके परिणामस्वरूप ये छोटे राज्य आपस में संघर्षरत रहते थे, तथा देश कमजोर हो जाता था। लगभग यही राजनीतिक स्थिति इन दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से दृष्टिगत होती है। इससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन भारत में शासन-प्रणाली के रूप में राजतंत्र का ही प्रचलन था। राजा अपनी दैवी-उत्पत्ति के सिद्धान्त पर बल देते थे। राजा भारी-भरकम उपाधि ग्रहण करते थे। राजा अपने उत्तराधिकारी के रूप में अपने ज्येष्ठ पुत्र की नियुक्ति करते थे। राजा की सहायता के लिए एक मंत्रिपरिषद् होती थी। यद्यपि राजा उनकी सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं था, तथपि सामान्यतः उनकी सलाह को मान लेता था। राजा का कर्त्तव्य होता था कि बाह्य आक्रमणों से राज्य की रक्षा करे तथा जनता के कल्याण के कार्य करे।

दोनों ग्रन्थों के रचना-काल में भारत की आर्थिक स्थिति उन्नत थी। कृषि अर्थ-व्यवस्था का आधार था। अधिकांश जनसंख्या कृषि पर आश्रित थी। कृषि मुख्यतः वर्षा पर आश्रित था। यदि मानसून धोखा दे दे, तो अकाल या दुर्भिक्ष की स्थिति आ जाती थी। यद्यपि कृत्रिम सिंचाई के प्रबंध किए गए थे, जैसे तालाब, कुंए, बांध नहरें आदि तथपि ये अपर्याप्त थे और वर्षा के अभाव में भारत की अर्थ-व्यवस्था खराब जो जाती थी। इसका मुख्य

प्रभाव ग्रामीण भारत पर पड़ता था। कृषि के साथ-साथ पशुपालन एवं वाणिज्य भी अर्थव्यवस्था के आधार थे। शहरों में रहने वाले व्यापारी वर्ग व्यापार-वाणिज्य के कारण ही सम्पन्न थे। उस समय व्यापार-वाणिज्य की स्थिति अच्छीं थी। देशी एवं विदेशी व्यापार होते थे। विदेशी व्यापार मुख्यतः समुद्रीमार्गो से होता था। पश्चिमी एशिया, यूरोप, दक्षिण-पूर्व एशिया, मध्य एशिया तथा चीन से वैदेशिक व्यापार होता था। व्यापार मुख्यतः वस्तु विनिमय पर आधारित था। गांवों एवं शहरों में भी वस्तु-विनिमय द्वारा व्यापार होता था। भूमि पर राजा के साथ-साथ कृषक के अधिकार को भी मान्यता थी। निजी स्वामित्व के साथ-साथ राजा को भी पृथ्वी का रक्षक होने के रूप में अधिपति माना जाता था और वह ग्राम-सभा की सहमति से गांव या भू-खण्ड दान में दे सकता था।

दोनों ग्रन्थों में वर्णित धार्मिक दशा के आधार पर कहा जा सकता है कि यह समय ब्राह्मण या वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का काल था। इस काल में ब्राह्मण धर्म के अन्तर्गत वैष्णव, शैव, शाक्त एवं अन्य सम्प्रदायों का चरमोत्कर्ष हुआ। शिव, विष्णु, गणेश, देवी, एवं कार्तिकेय आदि देवताओं की पूजा अपनी चरमावस्था में पहुँच गई। इस समय सूर्य पूजा का भी प्रर्याप्त प्रचलन था। धर्माचरण के अन्तर्गत यज्ञ, व्रत, उपासना, देवार्चन, सन्ध्यावन्दन, तपश्चर्या, तीर्थ यात्रा का समावेश किया जा सकता है। इस काल में देवताओं के लिए मंदिरों की स्थापना भी अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गई। मूर्तिपूजा का चरम रूप इस काल में दृष्टिगोचर होता है। पुनर्जन्म एवं कर्मसिद्धान्त पर विश्वास किया जाता था। देवी-देवताओं तथा धार्मिक मतों के प्रति विश्वास तथा उपासना का सम्बन्ध भक्तिवाद से था। इस भक्तिवाद के

साथ-साथ वैदिक कर्मकाण्ड की विधियों का भी प्रचलन था। दशकुमारचरितम् के काल तक यज्ञों का महत्त्व पहले की अपेक्षा कुछ कम हो गया था।

मृच्छकटिकम् के रचना-काल तक तो बौद्ध धर्म का पर्याप्त रूप से विकास हुआ, किन्तु दशकुमारचरितम् के काल तक उसमें पतन के लक्षण प्रकट होने लगे। ब्राह्मण-धर्म के पुनरुत्थान तथा बौद्धधर्म में निहित दोषों के कारण उसका पतन तीव्र हो गया। कुल मिलाकर यह समय धार्मिक सहिष्णुता का काल था तथा विभिन्न धर्मों के बीच कोई महत्त्वपूर्ण विवाद भी नहीं था। कालान्तर में अन्तर्निहित दोषों के कारण तथा राज्याश्रय न मिलने के कारण बौद्धधर्म भारत में लगभग लुप्त हो गया और जैनधर्म भी भारत के कुछ क्षेत्रों यथा मध्य प्रदेश, राजस्थान आदि तक सीमित हो गया।

◆❖◆
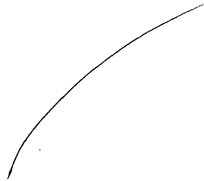
सहायक-ग्रन्थ-सूची

सन्दर्भ ग्रन्थसूचिका (ग्रन्थनाम के अनुसार)

1. **अद्भुत भारत**, डॉ. ए.एल. बाशम (हिन्दी शिवनारायण अग्रवाल, आगरा
2. **अमरकोश**, अमरसिंह, ओरिएण्टल बुक एजेंसी, पूना, 1907
3. **अभिज्ञानशाकुन्तलम्** , कालिदास, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1927
4. **अष्टाध्यायी**, पाणिनि, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1929
5. **आधुनिक संस्कृत साहित्य**, डॉ. हीरालाल शुक्ल, जीतमल्होत्रा, रचना खुल्दाबाद, इलाहाबाद, 1971
6. **उदयसुंदरीकथा**, सोड्ढल, गायकवाड, ओरिएण्टल सीरीज नं. 11
7. **कठोपनिषद्**, प्रो. शिवबालक द्विवेदी, ग्रन्थम् साकेत नगर, कानपुर, 1996
8. **काव्यमीमांसा**, पं. केदारनाथ शर्मा, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना 1954
9. **काव्यालंकारसूत्रवृत्ति**, वामन, चौखम्भा, वाराणसी
10. **कामसूत्र**, वात्स्यायन, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, 1989
11. **काव्यादर्श**, दण्डी, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास दिल्ली, मुद्रक श्री भारत भारती प्र. लिमिटेड, 1963
12. **कात्यायन स्मृति**, सं. नारायण चन्द्र बन्द्योपाध्याय, कलकत्ता, 1917
13. **कादम्बरी**, बाणभट्ट, सं. रामचन्द्र काले, बम्बई।
14. **कुमारसंभव**, कालिदास, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1927

15. **कौटिलीय अर्थशास्त्र**, सं. आर. शामशास्त्री मैसूर, 1909, 1929
16. **कृत्यकल्पतरु**, लक्ष्मीधर, बडौदा 1941-53
17. **क्रिटिकल स्टडी आफ दण्डिन एण्ड हिज वर्क्स**, जी.के. गुप्ता
18. **गौतम स्मृति**, सैक्रेड बुक आफ दि ईस्ट, आक्सफोर्ड, 1897
19. **चारुदत्त नाटक**, भास
20. **जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी; कलकत्ता**, डॉ. बार्नेट, कलकत्ता
21. **दशकुमारचरितम्** , एम. आर. काले (इजी.) , मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1971
22. **दशकुमारचरितम्** , विश्वनाथ झा, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1971
23. **दशकुमारचरितम् (पूर्व पीठिका)** , डॉ. कृष्ण कुमार मिश्र, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1996
24. **दशकुमारचरितम्** , सुबोधचन्द्र पन्त, चौखम्भा, वाराणसी
25. **दशकुमारचरितम् (बालविबोधिनी सम्पूर्ण)**, चौखम्भा, वाराणसी
26. **दशकुमारचरितम् (पूर्वपीठिका) विमला टीका**, चौखम्भा, वाराणसी
27. **दशकुमारचरितम् (पूर्वपीठिका)** , डॉ. विजयलक्ष्मी त्रिवेदी, शिवालिक द्विवेदी, चौखम्भा, वाराणसी
28. **द संस्कृत ड्रामा** , डॉ. ए. बी. कीथ (अनु. उदयभानु सिंह) , मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी

29. **दक्षिण भारत का इतिहास**, नीलकण्ठ शास्त्री, बिहार हिन्दी संस्थान

30. **देवल स्मृति**, बिब्लियोथिका इंडिया, 1903

31. **नाट्यशास्त्र**, मनमोहन घोष, कलकत्ता 1961

32. **नारद स्मृति**, सं. जोली, कलकत्ता, 1885

33. **नीतिवाक्यामृत** , सोमदेव, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला सीरीज नं. 221

34. **प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास**, डॉ. जयशंकरमिश्र, बिहार हिन्दी संस्थान

35. **प्राचीन भारत का आर्थिक एवं सामाजिक इतिहास**, डॉ. ओम प्रकाश, ईस्टर्नप्रकाशन, 1988

36. **प्राचीन भारतीय साहित्य**, एम. विण्टरनित्ज, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1966

37. **पूर्वमध्यकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन**, रामशरणशर्मा, दिल्ली, 1977

38. **पूर्वकालीन भारतीय समाज तथा अर्थव्यवस्था पर प्रकाश**, रामशरणशर्मा, दिल्ली 1975

39. **वृहत्संहिता**, वराहमिहिर, वाराणसी, 1895

40. **भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक इतिहास**, चोपड़ा, पुरी एवं दास, मैकमिलन प्रकाशन नई दिल्ली, 1972

41. **भारतीय साहित्य का इतिहास**, एम. विण्टरनित्ज, मोतीलाल बनारसीदास, 1963

42. **मृच्छकटिकम्** , डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी 1993, सम्पूर्ण

43. **मृच्छकटिकम्** , अनु. श्री महाप्रभुलाल गोस्वामी एवं श्री रमाकान्त द्विवेदी, चौखम्भा, वाराणसी, 1982

44. **मृच्छकटिकम्** , राम. आर. काले (इंजी.) , मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1971

45. **मृच्छकटिकम्; शास्त्रीय सामाजिक एवं राजनीतिक अध्ययन**, डॉ. शालग्राम द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1998

46. **मृच्छकटिकम्** , डॉ. श्री निवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1996

47. **मृच्छकटिकम्** , निर्णयसागर प्रेस संस्करण (अंग्रेजी) पृथ्वीधर की टीका सहित, 1963

48. **मृच्छकटिकम् या मिट्टी गाड़ी**, अनु. डॉ. रांगेय राघव

49. **मृच्छकटिकम्** , कृष्णकान्त त्रिपाठी, चौखम्भा, वाराणसी

50. **मृच्छकटिकम्** , चुन्नीलाल शुक्ल, चौखम्भा, वाराणसी

51. **मनुस्मृति**, डॉ. बुहलर उपाध्याय, 2.8.9.11

52. **मनुस्मृति टीका**, मेधातिथि, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी

53. **मनुस्मृति**, गंगानाथ झा, परिमल पब्लिकेशन्स, 1988

54. **महाभारत**, महर्षि वेदव्यास, गीताप्रेस, गोरखपुर, 1912

55. **महाभाष्य**, पतंजलि, सं. एफ0 कीलहार्न, बम्बई

56. **याज्ञवल्क्य स्मृति**, डॉ. गंगासागर राय, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली 1999

57. **याज्ञवल्क्य स्मृति का भाष्य**, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरिज, पूना 1903-04

58. **रघुवंश**, कालिदास, कालिदास ग्रन्थावली, वाराणसी

59. **रामायण**, वाल्मीकि, गीताप्रेस, गोरखपुर 1967

60. **राजतरंगिणी**, कल्हण, एम.ए. स्टीन, दो भाग 1960, वाराणसी 1961

61. **ऋग्वेद**, सं. एफ. मैक्समूलर, 1890-92 वैदिक संशोधक मण्डल, पूना 1933-51

62. **ऋतुसंहार**, कालिदास, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1922

63. **वाल्मीकि रामायण एवं संस्कृत नाटकों में राम**, डॉ. मंजुला सहदेव, विमल प्रकाशन गाजियाबाद 1979

64. **विष्णुधर्मसूत्र**, सं. जोली, कलकत्ता 1881

65. **शार्ङ्धरपद्धति**, सं. पीटर्सन, बम्बई संस्कृत-प्राकृत सिरीज नं. 37

66. **संस्कृत कविदर्शन**, डॉ. भोलाशंकर व्यास, चौखम्भा, वाराणसी

67. **संस्कृत साहित्य का इतिहास**, डॉ. बलदेव उपाध्याय, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी

68. **संस्कृत साहित्य का इतिहास**, डॉ. ए. वी. कीथ (हिन्दी)

69. **संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास**, पी.वी.काणे (अंग्रेजी)

70. **संस्कृत साहित्य का इतिहास**, वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा वाराणसी, 1960

71. **संस्कृत साहित्य का इतिहास**, डॉ. मंगलदेव शास्त्री , मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1967

72. **संस्कृत नाटक**, विश्वनाथप्रसाद , मोतीलाल बनारसीदास 1965

73. **संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास**, सूर्यकान्त, लोगमैन दिल्ली 1972

74. **संस्कृत साहित्य का सरल सुबोध इतिहास**, जितेन्द्रचन्द्र भारतीय शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1990

75. **संस्कृत नाटक की समीक्षा**, इन्द्रपालसिंह, साहित्य निकेतन कानपुर, 1977

76. **संस्कृत हिन्दी शब्दकोश**, वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, 1997

77. **संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास**, डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, संस्कृत साहित्य संस्थान कचेहरी रोड, इलाहाबाद

78. **संस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास**, चैतन्य कृष्ण, चौखम्भा, वाराणसी, 1965

79. **हिन्दू संस्कार**, डॉ. राजबलि पाण्डेय, चौखम्भा, वाराणसी, 1995

80. **हर्षचरित**, बाणभट्ट, अनुवाद क़ावेल और टामस, 1897